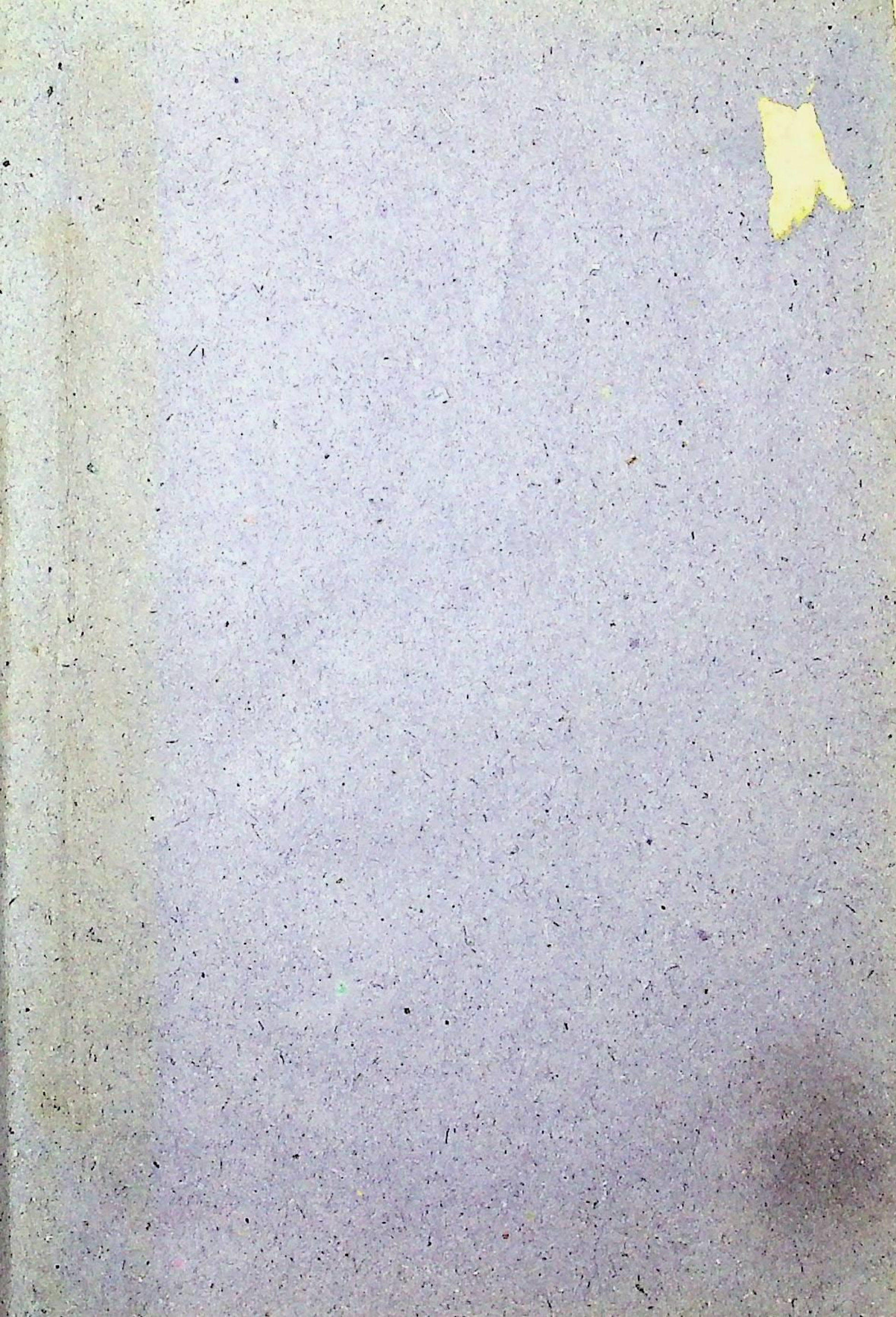
बरवै रामायण

दृश्य प्रचार निदेशालय, द्वारा अभिकल्पित और प्रकाशित
न्दा एण्ड कम्पनी (एमको प्रिन्टर्स) फरीदाबाद द्वारा मुद्रित
V हिन्दी 50,000 मार्च 78





न्दा एण्ड कम्प

V

श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदास कृत

बरवै रामायण

सिद्धान्त-तिलक





श्री श्रीकान्तशरण

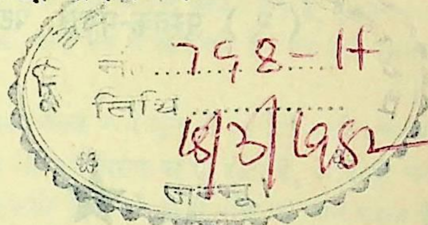
न्दा एण्ड कम्प

V

श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदास कृत

बरवै-रामायण

सिद्धान्त-तिलक



तिलककार

श्री श्रीकान्तशरण

समस्त तुलसी साहित्य पर विशद व्याख्या-

(सिद्धान्त-तिलक) कार

श्रीसद्गुरु कुटी, गोलाघाट,

श्रीअयोध्याजी



पुस्तक-भंडार, पटना ४

प्रथमावृत्ति १०००] संवत् २०१४ [निछावर ॥)

प्राप्ति-स्थान

(१) सिद्धान्त-तिलक कार्यालय

सद्गुरु कुटी, गोलाघाट, श्रीअयोध्याजी

•

(२) पुस्तक-भंडार, पटना ४



तिलककार द्वारा प्रकाशित



मुद्रक—

श्री महेन्द्रप्रसाद गुप्त

श्रीशंकर मुद्रणालय, हाथीगली, वाराणसी १

प्राक्कथन

प्रातः स्मरणीय श्रीगोस्वामीजी के द्वादश ग्रन्थों में सात ग्रन्थ ग्रन्थरूप में लिखे हुए जान पड़ते हैं, क्योंकि इनके प्रारम्भ में मङ्गलाचरण एवं अंत में समाप्ति सूचित की गई हैं। शेष पाँच ग्रन्थ संगृहीत जान पड़ते हैं, फुटकर रचना करते जाते थे, पीछे क्रम लगा कर ग्रन्थ रूप में किये गये हैं। यह बरवै रामायण भी संगृहीत में ही है।

इस बरवै रामायण की रचना केवल बरवै छन्द में हुई है। बरवै एक अर्द्ध-सम मात्रिक छन्द है। यह छन्द भी चार चरण का ही होता है, पर दो-दो चरण मिलाकर एक ही पंक्ति में लिखे जाते हैं, इससे दो ही पंक्ति का जान पड़ता है। इसके पहले और तीसरे चरणों में १२-१२ मात्राएँ और दूसरे तथा चौथे चरणों में ७-७ मात्राएँ होती हैं; अन्त में ऽ। (गुरु-लघु) होता है। कुल ३८ मात्राओं का यह छन्द होता है। (कोई-कोई ११, ८ पर भी यति मानते हैं,)। यह छन्द अवधी भाषा में विशेष रुचिकर होता है। नायिका भेद का एक ग्रंथ इसी छन्द में 'रहीम कवि' ने बनाया है।

श्रीगोस्वामीजी ने इस ग्रन्थ में कुल ६६ छन्द रक्खे हैं। इनमें प्रथम के १२ छन्द (६ + ६) श्रीसीतारामजी के ध्यान के हैं। फिर १३वें से ४२ वें तक छह कांडों के चरित-परक हैं। शेष ४३ वें से ६९ वें तक उत्तर काण्ड के तत्त्वज्ञानों एवं भक्ति रहस्य युक्त श्रीरामनाम जप-परक हैं। इस ग्रंथ के पूर्वार्द्ध में अलङ्कारों की प्रधानता है, इसमें स्पष्ट और शुद्ध अलङ्कार दिखाई देते हैं, जैसे अलङ्कार वाले ग्रन्थों में पाये जाते हैं। उत्तरार्द्ध में अलङ्कार कहीं-कहीं स्पष्ट है, नाम-जप विधि की प्रधानता है। इस समस्त ग्रन्थ में ध्वनियों की विशेषता है, थोड़े शब्दों में अर्थों और भावों की अगाधता है। इसमें कहीं-कहीं लम्बे समासों और तत्सम शब्दों के प्रयोग अधिक हैं। इससे यह पांडित्यपूर्ण भी है।

अन्य टीकाएँ

इस पर बहुत पहले मैंने श्रीबैजनाथजी की टीका देखी थी। पर इस समय मेरे पास वह नहीं थी। उसके पीछे की छपी हुई प्रोफेसर लाला भगवानदीनजी

'दीन' की एक टिप्पणी है। इसमें गूढ़ शब्दों के अर्थ हैं, कहीं-कहीं पूर्ण वाक्यार्थ भी हैं और अलङ्कारों के नाम दे दिये गये हैं। इसके पीछे की छपी हुई पं० जनार्दन मिश्र 'परमेश' की टीका है। इसमें विशेषकर अलङ्कारों की विवेचना है। पूर्वार्द्ध की टीका भी विशद है।

मेरे ग्रन्थ श्रीमन्मानस नाम वन्दना, मञ्जुरसाष्टयाम, मानस-सिद्धान्त विवरण एवं प्रपत्ति-रहस्य प्रकाशित हुए, श्रीरामचरित मानस एवं श्रीहनुमान् बाहुक पर 'सिद्धान्त-तिलक' भी प्रकाशित हुए। इन्हें सन्त-समाज एवं जनता ने आदर किये। लोगों की आकांक्षा बढ़ उठी कि मैं श्रीगोस्वामीजी के शेष सभी ग्रन्थों पर भी वैसे ही तिलक लिखूँ। अतः, मैंने यथामति तिलक लिखने का नित्य-नियम-सा कर लिया है। इस ग्रन्थ में भी यथामति प्रयास किया है। मानव-स्वभावतः त्रुटि रह जाना स्वाभाविक है, अतः, क्षन्तव्य है।

—तिलककार

विषय सूची

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
१ बालकाण्ड	१	४ किष्किंधाकाण्ड	४२
श्रीसीता-शोभा	१	५ सुंदरकाण्ड	४७
श्रीराम-शोभा	८	६ लंकाकाण्ड	५५
धनुष-यज्ञ प्रसंग	१३	७ उत्तरकाण्ड	५८
कोहबर प्रसंग	१७	रामनाम महिमा	६४
२ अयोध्याकाण्ड	२२	श्रीवाल्मीकि मुनि की कथा	७६
३ अरण्डकाण्ड	३३	श्रीअगस्त्यजी की कथा	८०

श्रीसीतारामाभ्यां नमः

श्रीमते भगवते रामानंदाचार्याय नमः, नमो गुरुभ्यः

श्रीतुलसीदासकृत

बरवै रामायण

सिद्धान्त-तिलक

बरवै-छन्द

श्रीगुरु सियपिय पद नख-दुति उर आनि ।
भरत लखन रिपुहन पद पथप्रद जानि ॥
हनुमत तुलसी बंदउँ बुधि बल पाय ।
बरवै तिलक बनावउँ हिय हुलसाय ॥

इति मङ्गलाचरण

बालकाण्ड

बरवै [१]

केस-मुकुत सखि मरकत मनिमय होत ।
हाथ लेत पुनि मुकुता करत उदोत ॥

शब्दार्थ—मुकुत (मुक्ता)=मोती (श्वेत रंग का मोती)। मरकत-मनि=पन्ना, हरे रंग का रत्न; यथा—"गारुत्मतं मरकतमश्मगर्भो हरिन्मणिः ।" (अमरकोष); गहरा हरा रंग नील रंग के समान देख पड़ता है । अतः, यहाँ नीलमणि (नीलम) का अर्थ है; क्योंकि काले केशों का रंग मोती में आया है । उदोत=प्रकाश । केस (केश)=शिर के बाल ।

अर्थ—(श्रीसीताजी के केशों की शोभा का वर्णन करती हुई सखियाँ आपस में कहती हैं—) हे सखी ! केश में (गूथते ही) मुक्ताएँ नीलमणि रूप हो जाती हैं; परन्तु वे ही हाथ में लेने पर फिर (पूर्ववत्) मुक्ता रूप में ही प्रकाश करतो हैं (चमकने लगती हैं)।

विशेष--श्रीसीताजी के केशों का शृङ्गार करती हुई सखियाँ उसमें मोती गूँथती हैं। केशों की काली आभा मोतियों में आ जाती है। इस पर सखियों को सन्देह हो जाता है कि मैंने नीलम तो नहीं गूँथ दिया ? शिर पर काले रंग की मोतियाँ नहीं रहनी चाहिये, इससे वे फिर उन मोतियों को हाथ में ले लेती हैं। तब वे फिर पूर्ववत् मुक्ताएँ हो जाती हैं।

श्रीसीताजी के केश काले, चिकने और चमकीले हैं। इनमें मुक्ताओं से कहीं अधिक चमक है, इसीसे इनका प्रभाव मुक्ताओं पर पड़ता है, इनकी छटा उन पर चढ़ जाती है। अतएव केशों की शोभा विलक्षण है।

अलंकार—'पूर्वरूप' का पहला भेद है।

लक्षण—"पूर्व रूप लै संग गुण, तजि फिरि अपनो लेत।
सेस श्याम भो शिव गरे, रहै सुजस तें सेत॥" (भानु)

उदाहरण—खलउ करहिं भल पाइ सुसंगू। मिटइ न मलिन सुभाउ अभंगू॥
"लखि सुबेष जग बंचक जेऊ। बेष प्रताप पूजियहि तेऊ॥
उघरहिं अंत न होहिं निबाहू। कालनेमि जिमि रावन राहू॥"
(मा० बा० ६)।

यहाँ मुक्ताएँ केशों का गुण लेकर काली-सी दीखती थीं, केशों से पृथक् होने पर वे अपने पूर्वरूप में दीखने लगीं, इससे यहाँ 'पूर्वरूप' अलंकार है।

कोई-कोई यहाँ 'तद्गुण' अलंकार भी मानते हैं।

[२]

सम सुबरन सुखमाकर सुखद न थोर।
सीय अंग सखि कोमल कनक कठोर॥

शब्दार्थ—सुबरन (सुवर्ण एवं स्वर्ण) = सोना, सुन्दर रंग। सुखमाकर (सुखमा + आकर) = परमाशोभा की खान; यथा—"सुषमा परमाशोभा··" (अमरकोष)।

अर्थ—हे सखी ! श्रीसीताजी के शरीर का रंग अत्यन्त सुन्दर और बड़ा सुखदायक सोने का-सा है; परन्तु (यह भेद है कि) श्रीसीताजी का शरीर कोमल है और सोना कठोर होता है।

विशेष—'सम सुबरन'—सुन्दर वर्ण मात्र में सोने की समता है, शेष कई गुणों में श्रीसीताजी के अंगों में विशेषताएँ हैं, यह अगले विशेषणों से प्रकट करते हैं।

'सुखमाकर'—सोने में वर्ण मात्र की सामान्य शोभा है, श्रीसीताजी का अंग कई विशेष गुणों से परमाशोभा की खान है—लावण्य, स्निग्धता, रूप संगठन और सौगन्ध्य आदि गुण इसमें परिपूर्ण है, इनसे यह अत्यन्त सुखद है और सोना थोड़ा सुखद है सबसे अधिक स्पष्ट भेद तो यह है—

'सीय अंग सखि...'—श्रीसीताजी का शरीर अत्यन्त कोमल है और सोना कठोर होता है। वह कोमलता सोने के भाग्य में नहीं है।

अलंकार—'व्यतिरेक' के दोनों भेद हैं।

लक्षण—"व्यतिरिक वर्ण अवर्ण में, कोई बात विशेष।
मुख है अम्बुज सो सखी, मीठी बात विशेष॥" (भानु)

अर्थात् जहाँ उपमान से उपमेय में अधिकता कही जाती है, वहाँ व्यतिरेक अलङ्कार होता है, जैसे मुख कमल के समान है, पर मुख में मीठी बात भी है, यह विशेषता है।

उदाहरण—' निज परिताप द्रवै नवनीता। परदुख द्रवहिं संत सुपुनीता॥"
(मा० उ० १२४)।

इस अलंकार के दो भेद भी कहे जाते हैं—(१) उपमेय में उपमान से गुण की अधिकता कही जाय। (२) उपमेय की अपेक्षा उपमान में गुणहीनता दिखाई जाय।

यहाँ इस बरवै के पूर्वार्द्ध में प्रथम भेद है; क्योंकि वर्णमात्र में समता दिखाकर और कई गुणों की ('सुखमाकर' एवं 'सुखद न थोर' आदि से) उपमेय में अधिकता है। उत्तरार्द्ध में द्वितीय भेद है; क्योंकि उपमान सोने में कोमलता की हीनता कही गई है।

नोट—जहाँ एक ही वाक्य-निबन्ध में एक से अधिक अलंकार आते हैं, वहाँ 'उभयालंकार' कहा जाता है। उसमें भी 'संसृष्टि' और 'संकर' दो भेद हैं।

यहाँ पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में स्पष्ट रूप में अर्थालंकार-अर्थालंकार ही पृथक्-पृथक् हैं। अतः, उभयालंकार संसृष्टि का दूसरा भेद है।

'सुबरन' इस पद के एक साथ ही दो अर्थ लिये गये हैं। अतः, यहाँ 'श्लेषालंकार' भी है।

[३]

सिय मुख सरद कमल जिमि किमि कहि जाइ।
निसि मलीन वह, निसि दिन यह बिगसाइ॥

अर्थ – यह कैसे कहा जाय कि श्रीसीताजी का मुख शरद् ऋतु के कमल के समान है; क्योंकि वह (कमल) रात में मलिन हो (कुँभला) जाता है और यह (श्रीसीताजी का मुख) रात-दिन प्रफुल्लित (प्रसन्न) रहता है।

विशेष—मुख में अधर की लालिमा को लेकर, लाल कमल की उपमा दी जाती है; यथा—"नव कंज लोचन कंज मुख कर कंज पद कंजारुनं।" (वि० ४५); इसमें नेत्र, मुख, कर और पद नवीन लाल कमल के समान कहे गये हैं। शरद् ऋतु में सभी प्रकार के कमलों में विशेषता रहती है। यहाँ शरद् के लाल कमल की उपमा का भाव है; यथा – "कबहिं देखाइहौ हरि चरन।··· सरद भव सुंदर तरुन तर अरुन बारिज बरन।" (वि० २१८)। शरद ऋतु के कमल में भी रात में सम्पुटित होकर मलिन होने का दोष तो रहता ही है। परन्तु श्रीसीताजी के मुख कमल में यह दोष नहीं है।

कमल सूर्य का प्रेमी है, पर सूर्य का प्रेम इस पर नहीं रहता, इसकी चिन्ता न कर सूर्य अस्ताचल को चले जाते हैं, इससे यह मलिन हो जाता है, परन्तु श्रीसीताजी का श्रीरामजी में दाम्पत्य प्रेम है, परस्पर परमस्नेह है। अतः, सदा संयोग एवं प्रसन्नता रहती है; यथा—"कबहूँ जोग बियोग न जाके।" (मा० बा० ४८)।

अलङ्कार—'व्यतिरेक' का द्वितीय रूप है, लक्षण ऊपर लिखा गया।

उदाहरण—"जनम सिंधु पुनि बंधु बिष, दिन मलीन सकलंक।
सिय मुख समता पाव किमि, चंद बापुरो रंक॥"
(मा० बा० २३७)।

[४]

बड़े नयन कुटि भृकुटी भाल बिसाल।
तुलसी मोहत मनहिं मनोहर बाल॥

शब्दार्थ—कुटि = कुटिल, टेढ़ी। बिसाल (विशाल) = सुन्दर और भव्य—हिं० श० सा०। बाल = शिरकेश।

अर्थ—श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीजानकीजी के बड़े-बड़े नेत्र, टेढ़ी भौंहें, सुन्दर और भव्य ललाट तथा मनोहर सुलझे हुए शिर के केश तो मन को मुग्ध कर लेते हैं।

विशेष—ऊपर छन्द १ में केशों की चमक कही गई थी, यहाँ 'मनोहर बाल' इस शब्द से केशों के सुलझाव युक्त स्वरूप का वर्णन है। 'भाल-विशाल' इस पद में सुन्दरता एवं भव्यता का भाव है, विस्तृत एवं चौड़े का नहीं; क्योंकि स्त्रियों के भाल की चौड़ाई की प्रशंसा नहीं होती। 'मोहत' इस पद में मोह का भाव वही है, जैसे किसी-किसी सुन्दर छोटे बालक पर मन मुग्ध हो जाता है; तथा—"रंग भूमि जब सिय पगुधारी। देखि रूप मोहे नर नारी।" (मा० बा० २४७)।

अलङ्कार—'स्वभावोक्ति'।

लक्षण—"जाको जैसो रूप गुन, बरनत ताही साज।
स्वभावोक्ति भूषन तहाँ, कहैं सबै कविराज॥" (दीन जी)

यहाँ श्रीसीताजी के कुछ अंगों का स्वाभाविक (ज्यों का त्यों) वर्णन है, इससे 'स्वभावोक्ति' माना गया है।

'मोहत मनहिं मनोहर बाल' इस पद से 'परिकर' अलङ्कार भी हो सकता है क्योंकि 'मनोहर' विशेषण में मन मोहने का भाव है।

[५]

चंपक-हरवा अँग मिलि अधिक सोहाइ।
जानि परै सिय हियरे जब कुँभिलाइ॥

अर्थ—चम्पाफूल का हार श्रीसीताजी के अंग (की गोराई) से मिलकर अधिक शोभा देता है, परन्तु वह श्रीसीताजी के हृदय पर है, यह तब जान पड़ता है, जब कुम्हला (मुरझा) जाता है।

विशेष—चंपे के फूल का रंग श्रीसीताजी के गोरे रंग से मिलता है। इससे वह अंग की गोराई में विलीन हो जाता है, शरीर की आभा से उसमें शोभा अधिक आ जाती है। यहाँ शरीर के रंग में वह विलीन हो जाने से दिखाई ही नहीं देता, इससे शरीर के रंग की प्रधानता है। शरीर के रंग ने चंपे की छबि को छीन कर अपनी शोभा बढ़ा ली है। फिर अपने संग से उसे अधिक शोभा दी है।

अलङ्कार—'अनुगुण'-उपर्युक्त पूर्वार्द्ध में यह अलङ्कार है।

लक्षण—"अनुगुण संगति ते जबै, पूरन गुण सरसाय।
मुक्तमाल हिय हास्य ते, अधिक सेत ह्वै जाय॥" (भानु)

उदाहरण—"मनि मानिक मुकुता छबि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी॥ नृप किरीट तरुनी तनु पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥"
(मा० बा० १०)।

'जानि परइ···' इस उत्तरार्द्ध में कहा गया है कि चंपक हार अंग में मिल कर दिखाई नहीं देता था, पर कुम्हलाने पर दिखाई देने लगा।

अलङ्कार—'उन्मीलित'

लक्षण—"उन्मीलित सादृश्यतें, हेतु भेद कछु मानि।
कीरति आगे तुहिन गिरि, छुए परत है जानि॥" (भानु)

यहाँ श्रीसीताजी की गोराई में मिला हुआ चंपा का हार कुम्हलाने से (इस हेतु से) जाना गया, इससे यह अलङ्कार है।

उदाहरण—"बय बपु बरन रूप सोइ आली। सील सनेह सरिस सम चाली॥ बेष न सो सखि सीय न संगा। आगे अनी चली चतुरंगा॥ नहिं प्रसन्न मुख मानस खेदा॥ सखि संदेह होइ एहि भेदा॥" (मा० बा० २२१) तथा—"बदौं संत असज्जन चरना। दुख प्रद उभय बीच कछु बरना॥ बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं। मिलत एक दारुन दुख देहीं॥" (मा० बा० ४)।

इसी प्रकार बिहारी ने भी कहा है, दोहा—रंच न लखियत पहिरिए, कंचन से तन बाल। मुरझाने जानी परै, उर चंपे की माल ॥

[६]

सिय तुव अँग-रँग मिलि अधिक उदोत।
हार बेलि पहिरावौं चंपक होत॥

शब्दार्थ—तुव (तव)=तुम्हारा। उदोत=प्रकाशित।

अर्थ—हे श्रीसीताजी ! तुम्हारे (चम्पक वर्ण) अंग केरंगसे मिलकर वस्तुएँ अधिक प्रकाशित हो जाती हैं, इसी से जब मैं बेले का हार पहनाती हूँ, तब वह चम्पे का हो जाता है।

विशेष—यहाँ श्वेत रंग के बेले का हार श्रीसीताजी के चम्पक वर्ण अंग का रंग लेकर चम्पक वर्ण का होकर चम्पे का हार बन गया, इससे उदार अंगों के रंग दातृत्व पर—

अलङ्कार-'तद्‌गुण' है।

लक्षण—"तद्‌गुण तजि गुण आपनो, सङ्गति को गुण लेय।
बेसर मोती अधर मिलि, पद्मराग छवि देय॥" (भानु)

यहाँ श्वेत रंग के पुष्प ने श्रीसीताजी के अंग-रंग को ग्रहण कर चम्पक वर्ण धारण किया, इससे 'तद्‌गुण' अलङ्कार है।

उदाहरण—"धूमौ तजै सहज करुआई। अगर प्रसंग सुगंध बसाई॥"
(मा० बा० ६)।

अवतरणिका—श्रीसीता-रामजी जगत् के माता-पिता हैं; यथा—"जगदंबा जानहु जिय सीता॥ जगत पिता रघुपतिहि बिचारी।" (मा० बा० २४५); तथा—"त्वं माता सर्व लोकानां देवदेवो हरिः पिता। त्वयैतद्विष्णुना चाम्ब जगद्व्याप्तं चराचरम्॥" (वि० पु० १।६।१२६); अर्थात् हे श्री जी! आप लोकों की माता हैं और हरि पिता हैं, आप दोनों से चराचर जगत् व्याप्त है। पिता से माता का गौरव अधिक होता है, इससे माता श्रीजानकीजी का वर्णन पहले हुआ है। दोनों तुल्य हैं, इससे छः छः ही छन्दों में दोनों के रूप का वर्णन भी किया गया है। आगे श्रीरामजी के रूप का वर्णन करते हैं—

[७]

साधु सुसील सुमति सुचि सरल सुभाव।
राम नीतिरत काम कहाँ यह पाव॥

अर्थ—श्रीरामजी साधु, सुशील, अच्छी बुद्धिवाले, पवित्र आचरण और सीधे स्वभाव वाले तथा नीति के अनुसार बर्त्ताव करने वाले हैं, काम यह (इन गुणों की विभूति को) कहाँ पा सकता है ? (तब काम की उपमा श्रीरामजी में कैसे दी जा सकती है ?)।

विशेष—'साधु'; यथा—"सब कोउ कहइ राम सुठि साधू।" (मा० अ० ३१); 'सुसील'; यथा—"सुनि सीतापति सील सुभाउ।" (वि० १००) यह पूरा पद देखिये। 'सुमति'; यथा—"सुद्ध बोधैकघन ..." (वि० ५२); 'सुचि'; यथा—"किए चरित पावन परम, प्राकृत नर अनुरूप।" (मा० उ० ७२); 'सरल सुभाउ'; यथा—"नाथ सुहृद सुठि सरल चित, सील सनेह निधान।" (मा० अ० २२७); 'नीति रत'; यथा—"नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥" (मा० अ० २५३); "राम राज सुनियत राजनीति की अवधि" (क० उ० ७४)।

श्रीरामजी साधु हैं, काम असाधु है, श्रीरामजी सुशील हैं, काम दुश्शील है, इसी प्रकार सभी गुणों के भाव जानना चाहिये।

शारीरिक सौन्दर्य मात्र की किंचित् समता से काम श्रीरामजी की समता नहीं पा सकता। उसमें हृदय की सुन्दरता का नितान्त अभाव है कहा भी है; यथा—"अंग-अंग पर बारिअहि, कोटि-कोटि सत काम।" (मा० बा० २२०)।

अलंकार—'व्यतिरेक'—लक्षण पद २ में लिखा गया है।

" 'प्रतीप' का तीसरा भेद भी है—

लक्षण—"जहँ बरनत उपमेय ते, हीनो करि उपमान।
तीछन नैन कटाक्ष ते, मन्द काम के बान॥" (भानु)

उदाहरण—"सियमुख समता पाव किमि, चंद बापुरो रंक।"
(मा० बा० २३७)।

[८]

कुंकुम तिलक भाल श्रुति कुंडल लोल।
काकपच्छ मिलि सखि कस लसत कपोल॥

शब्दार्थ—कुंकुम = केसर। लोल = चंचल। श्रुति = कान। काकपच्छ = शिर के बालों के पट्टे जो दोनों ओर कानों और कनपटियों के ऊपर रहते हैं। कपोल = गाल।

अर्थ—(श्रीरामजी के) ललाट पर केसर की (पीत वर्ण) तिलक सुशोभित है, कानों में कुण्डल डोल रहे हैं तथा कानों की दोनों ओर काली, चिकनी एवं चमकीली जुल्फें (काकपक्ष) लटकती हैं, इन सबसे मिलकर, हे सखी! (श्रीरामजी का) कपोल कैसा शोभायमान हो रहा है ?

विशेष—सखी ने श्रीरामजी के मुख शोभा पर दृष्टि दी। भाल की तिलक और कानों के कुण्डल तथा काकपच्छ देखने के साथ उसकी दृष्टि कपोलों पर पड़ी। दर्पणवत् कान्तिमान कपोलों पर कुण्डलों की एवं जुल्फों की झाईं देख कर वह मुग्ध हो उठी और प्रशंसा करने लगी; यथा—"भाल तिलक, कंचन किरीट सिर, कुंडल लोल कपोलन झाँई। निरखहिं नारि निकर विदेहपुर निमि-कुल की मरजाद मिटाई॥" (गी० बा० १०६)।

'कुंकुम तिलक भाल', यथा—"भाल बिसाल, बिकट भृकुटी बिच तिलक रेख रुचि राजै। मनहुँ मदन तम तकि मरकत धनु जुगल कनक सर साजै॥" (गी० उ० १२); "नयन सरोज, कुटिल कच, कुंडल भ्रुकुटि सुभाल तिलक सोभा-सारु। मनहुँ केतु के मकर, चाप सर गयो बिसारि भयो मोहित मारु॥" (गी० उ० १०); "कुंचित कच सिर मुकुट भाल पर तिलक कहौं समुझाई। अलप तड़ित जुग रेख इंदु महँ रहि तजि चंचलताई॥" (वि० ६२)।

अलंकार—'स्वभावोक्ति'—लक्षण पद ४ में लिखा गया।

[९]

भाल तिलक सर सोहत भौंह कमान।
मुख अनुहरिया केवल चंद्र समान॥

शब्दार्थ—अनुहरिया (सं० अनुहरण) = समान होना, आकृति।

अर्थ—श्रीरामजी के ललाट पर तिलक बाण के समान और भौंहें धनुष के

समान शोभा दे रहे हैं। उनके मुख की आकृति वर्णन में केवल चन्द्रमा समान कहा जा सकता है।

विशेष—तिलक की दोनों ऊर्ध्व रेखाएँ बाण के समान हैं, इसके कई प्रमाण ऊपर दिये गये हैं। भौंहें अधिक टेढ़ी होने से धनुष के समान हैं, इस पर भी ऊपर 'मरकत धनु' आदि प्रमाण दिये गये हैं।

'सोहत' यह क्रिया दीपदेहली अलंकार होकर पूर्व और पर दोनों पदों के साथ है।

'मुख अनुहरिया केवल···'—मुख की उपमा में चन्द्रमा के अतिरिक्त कमल एवं काम आदि भी कहे जाते हैं; यथा—"नव कंज लोचन कंज मुख···" (वि० ४५ ; "मुख छबि कहि न जाइ मोहिं पाहीं। जो बिलोकि बहु काम लजाहीं॥" (मा० बा० २३२)। यहाँ पर सखि उन उपमाओं को अयोग्य मान कर केवल चन्द्रमा को ही नियत करती है; क्योंकि इसकी दृष्टि चकोरवत् मुखचन्द्र की छवि रूपी अमृत पान में लग गई है; यथा—"एकटक सब सोहहिं चहुँ ओरा। रामचंद मुखचंद चकोरा॥" (मा० अ० ११४); 'देखि इंदु चकोर समुदाई। चितवहिं जिमि हरिजन हरि पाई॥" (मा० कि० १६); "चदि-आह्लादने" इस धातु से चन्द्र पद सिद्ध होता है, इससे श्रीराम मुख आह्लादमय है; यथा—"सब बिधि सब पुरलोग सुखारी। रामचंद मुखचंद निहारी॥" (मा० अ० १ ; इस सखी को मुखछबिपान में अत्यन्त आनंद प्राप्त हो रहा है, इससे यह अन्य उपमाओं को छोड़ कर केवल चन्द्र ही को नियत करती है।

अलंकार—पूर्वार्द्ध में 'सम अभेद रूपक' है और उत्तरार्द्ध में 'नियमोपमा' है।

'सम अभेद रूपक' का लक्षण—

" रूपक साम्य निषेध बिन, जहँ उपमे उपमान।
मिलि तद्रूप अभेद द्वै, अधिक न्यून सम जान॥" (भानु)

अर्थात्—बिना निषेध उपमेय और उपमान में समता हो तो रूपक होता है, इसके अभेद और तद्रूप मिल कर दो भेद हैं, फिर प्रत्येक के तीन-तीन (अधिक, न्यून और सम) उपभेद हैं। सामान्य उदाहरण—हस्त कमल, मुख कमल एवं नेत्र कमल तथा मुखचन्द्र आदि।

अभेद सम—"तुव मुख पंकज बिमल यह, धरत सुबास अछेह।" (भानु)
उदाहरण—"संपति चकई भरत चक, मुनि आयसु खेलवार।
तेहि निसि आश्रम पिंजरा, राखे भा भिनुसार॥"
(मा० अ० २१५)।

"रामकथा सुंदर करतारी। संसय बिहँग उड़ावनि हारी॥" (मा०बा०११३)।

यहाँ पूर्वार्द्ध में उपमेय 'तिलक' का उपमान 'सर' में और 'भौंह' का 'कमान' में आरोप है। इससे ये दोनों 'सम अभेद रूपक' हैं। इसमें वाचक और धर्म लुप्त रहता है, वह बात भी यहाँ है ही।

'नियमोपमा' के लक्षण—
"याकी उपमा है यही, ऐसे नेम निभाय।
बरनै कविवर उक्ति जहँ, नियमोपमा लखाय॥" (परमेश)

इसका वाचक 'हीं' एवं 'केवल' है, वह केवल चन्द्र' इस पद में स्पष्ट है।

[१०]

तुलसी बंक बिलोकनि मृदु मुसुकानि।
कस प्रभु नयन कमल अस कहउँ बखानि॥

अर्थ—श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि प्रभु श्रीरामजी के नेत्रों में तिरछी-चितवन और कोमल (मधुर) मुसकान भी हैं, तो इन्हें कमल के समान कैसे बखान कर (प्रशंसात्मक वर्णन में) कहा जाय ?

विशेष—श्रीरामजी आश्रितों पर कृपा करते हुए तिरछी दृष्टि से देखते हैं और वे सदा प्रसन्नमुख रहते हैं. उस प्रसन्नता की छाया उनके नेत्रों पर भी पड़ती है. इससे वे नेत्र हँसते-से दीखते हैं। उन्हें देख कर आश्रित कृतार्थ हो जाते हैं।

नेत्रों में हँसने एवं मुसुकराने की कल्पना विहारी ने भी की है; यथा—
"सहज हँसौहें जानि के, सौहें करति ननैन॥"
"करी रिसौहीं जायगी, सहज हसौंही भौंह॥"

कमल जड़ है। अतः, उसमें करुण-गुण का अभाव है, इससे उसमें उक्त तिरछेपन का भाव नहीं रहता। कमल को उसके शत्रु चन्द्रमा का भय भी

रहता है, इससे उसमें हँसी का अभाव ही है। आकृति सादृश्य पर भी इन दो अभावों के कारण वह श्रीरामजी के नेत्रों की उपमा के योग्य नहीं है।

अलंकार—'व्यतिरेक' का दूसरा भेद है—पद २ में लक्षण लिखा गया। कोई-कोई यहाँ 'चतुर्थ प्रतीप' भी मानते हैं।

[११]

कामरूप सम तुलसी राम सरूप।
को कवि समसरि करै परै भवकूप॥

शब्दार्थ—समसरि = बराबरी। भवकूप = संसार रूप कुआँ; यथा—"पाँच पाँच परस, रस, सब्द, गंध अरु रूप। इन्ह कर कहा न कीजिये, बहुरि परब भव कूप॥" (वि० २०३)।

अर्थ—श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीरामजी का स्वरूप कामदेव के स्वरूप के समान है, ऐसी बराबरी करके कौन कवि भवकूप में पड़ना चाहेगा, अर्थात् कोई नहीं।

विशेष—'समसरि' पद का प्रयोग रूप, गुण, स्वभाव एवं धर्म आदि की सम्यक् समानता में होता है। कामदेव में केवल रूप की किंचित् समानता है, शेष गुण आदि में विरोध पाया जाता है। पद ७ में कुछ गुणों का विरोध लिखा गया है। श्रीरामजी का दर्शन मोक्षप्रद है, कामदेव का दर्शन नरक का द्वार है, यह स्वभाव विरोध है। श्रीरामजी में दया आदि गुण हैं, कामदेव में क्रूरता आदि अवगुण हैं। श्रीरामजी के धर्म (आचरण) शुचि हैं, काम के अशुचि आदि।

ऐसे अयोग्य का सादृश्य कहने से श्रीरामजी का अपमान होता है, इससे ऐसे कवि को भव-कूप में पड़ने का भय रहता है; यथा—"उपमा सकल मोहि लघु लागी। प्राकृत नारि अंग अनुरागी॥ सिय बरनिय तेइ उपमा देई। कुकवि कहाइ अजस को लेई॥" (मा० बा० २४६); "कोटि काम उपमा लघु सोऊ॥" (मा० बा० २४२); इत्यादि।

अलंकार—'प्रतीप' का पाँचवाँ भेद है।

लक्षण—"व्यर्थ होइ उपमान जब, उपमे को लखि सार।
दृग आगे मृग कछु न ये, पंच प्रतीप प्रकार॥" (भानु)

यहाँ श्रीरामजी के स्वरूप के समक्ष काम-स्वरूप व्यर्थ कहा गया है।

उपर्युक्त पद ७ में कामदेव की श्रीराम-सदृशता में गुण का अभाव मात्र कहा गया था, यहाँ उसकी उपमा देने को मना किया गया है, यह विशेष है।

[१२]

चढ़त दसा यह उतरत जात निदान।
कहउँ न कबहूँ करकस भौंह कमान॥

शब्दार्थ—निदान = अंत में। करकस (सं० कर्कश)=कठोर।

अर्थ—इस (श्रीरामजी की भौंह) की दशा चढ़ती हुई (तनी हुई) रहती है और उस (कमान) की दशा (कुछ काल चढ़ी रहने से) अन्त में उतरती (शिथिल पड़ती) जाती है तथा कमान कठोर भी होती है। अतः, मैं तो कभी श्रीरामजी की भौंह को कमान (के समान) नहीं कहता।

विशेष—श्रीरामजी का दिव्य शरीर नित्य किशोर अवस्था में रहता है; यथा—"षोड़श वर्ष किशोर राम नित सुंदर राजैं।" (ध्यान मंजरी-अग्रस्वामि कृत); इससे आपकी भौंहें नित्य चढ़ती ही दशा में रहती हैं। धनुष् का रोदा चढ़ा रहने से फिर उतरने लगता है, इसी से काम हो जाने पर लोग रोदा उतार देते हैं।

धनुष् में उक्त रीति से निदान ह्रासता और कठोर है, यह त्रुटि है, नहीं तो भौंहों की उपमा दे दी जाती।

अलंकार—'व्यतिरेक' का दूसरा भेद है—लक्षण पद २ में लिखा गया। कोई-कोई इसमें उपर्युक्त 'प्रतीप' का पाँचवाँ भेद भी मानते हैं।

अव०—आगे क्रमशः सातो काण्ड के चरित्र संक्षेप में कहते हैं—

धनुष यज्ञ-प्रसंग

[१३]

नित्य नेम कृत अरुन उदय जब कीन।
निरखि निसाकर नृप मुख भये मलीन॥

शब्दार्थ— अरुन (अरुण)=सूर्य। निसाकर = चन्द्रमा।

अर्थ—नित्य-नियम (संध्या-वन्दन आदि) करके जब श्रीरामजी धनुष-यज्ञ

में आए हुए राजाओं के मध्य में सूर्योदय के सदृश उपस्थित हुए, तब उन्हें दे
कर चन्द्रमा के समान राजाओं के मुख मलिन हो गये ।

विशेष – 'नित्य नेम कृत'; यथा—"होइ सुचि सहज पुनीत नहाने।
नित्य क्रिया करि गुरु पहिं आये ।" (मा० बा० २३८) ।

'अरुन उदय जब कीन ।'; यथा—"अरुनोदय सकुचे कुमुद, उडुगन
जोति मलीन । जिमि तुम्हार आगमन सुनि, भए नृपति बल हीन ॥" (मा
बा० २३८); श्रीलक्ष्मणजी ने ऐसा कहा था, फिर वैसा ही हुआ; यथा–
"प्रभुहि देखि सब नृप हिय हारे । जनु राकेस उदय भये तारे ॥" (मा० बा
२४४); तथा –"भूपति किसोर दुहूँ ओर बीच मुनिराउ, देखिबे को दाउँ
देखो देखिबो बिहाइ कै । उदय सैल सोहैं सुंदर कुँवर जोहैं, मानो भानु भो
भूरि किरन छिपाइ कै ॥" (गी० बा० ८२); "देखियत भूप भोर के-से उडु
गन गरत गरीब गलानि हैं । तेज प्रताप बढ़त कुँवरन को जदपि सँकोची बानि
हैं ॥" (गी० बा० ७८) ।

यहाँ राजाओं के समाज में श्रीरामजी के प्रताप का महत्त्व कहा गया
है, राजागण स्वयं मलिन पड़ गये । अभी धनुर्भङ्ग का प्रसंग आगे है । राज
गण धनुर्भङ्ग करने की आशा में आये थे, श्रीरामजी के आने के पूर्व वे प्रसन्न
थे, जैसे रात में चन्द्रमा प्रसन्न रहता है । श्रीरामजी के आने पर इनके तेज
प्रताप और दिव्य रूप को देख कर उन्हें इनमें अपरिमेय बल होने का अनुमान
हुआ, यथा—"सुचि सुजान नृप कहहिं हमहिं अस सूझइ । तेज प्रताप रू
जहँ तहँ बल बूझइ ।" (जानकी मंगल ६६); फिर महर्षि विश्वामित्र की
यज्ञ-रक्षा एवं अहल्योद्धार आदि की कीर्ति सुनी । इससे श्रीरामजी के तेज
प्रताप से अभिभूत (पराजित) होकर वे राजा लोग फीके पड़ गये, जैसे सू
के आगे चन्द्रमा ।

अलंकार – 'रूपक' है—लक्षण पद ९ में लिखा है । यहाँ विना किसी
निषेध के श्रीरामजी को उपमेय और अरुण को उपमान तथा राजाओं को उप
मेय और चन्द्रमा को उपमान मान कर समता कही गई है ।

"यहाँ श्रीरामजी का बोधक कोई शब्द नहीं है । 'नृप मुख' आदि की समी

पता से श्रीरामजी का उपमेय रूप में आरोप ऊपर से किया गया है, इससे यहाँ 'आर्थी एक देश विवर्त्ति सांग रूपक' है...''—परमेश।

[१४]

कमठ पीठ धनु सजनी कठिन अँदेस।
तमकि ताहि ये तोरिहि कहब महेस॥

शब्दार्थ—कमठ = कछुआ। तमकि = तेजी से, जोश पूर्वक।

अर्थ—(श्रीसीताजी की सखियाँ कहती हैं—) हे सजनी (सखी)! यह शिव धनुष कछुए की पीठ के समान कठोर है, इससे हम सबको बड़ी भारी चिन्ता है। ये (श्रीरामजी) इसे जोशपूर्वक (शीघ्रता से) तोड़ेंगे (इसलिये हम सब) महान् ईश (समर्थ) शिवजी से कहेंगी (तो वे आशुतोष एवं अवढर दानी हैं। अतः अवश्य सुनेंगे और हमारे मनोरथ पूरा करेंगे;)।

विशेष—'कमठ पीठ धनु...'; यथा—''कमठ पीठ पविकूट कठोरा। नृप समाज महँ सिव धनु तोरा॥'' (मा० बा० ३५६)। ''कुलिस कठोर कहाँ संकर धनु मृदु मूरति किसोर कित ए री।'' (गी० बा० ७६); 'कठिन अँदेस'; यथा—''सीता मातु सनेह बस, बचन कहइ बिलखाइ।'' से ''बाल मराल कि मंदर लेहीं॥'' (मा० बा० २५५)। श्रीजानकीजी को भी अँदेशा था; यथा—''अहहु तात दारुनि हठि ठानी।'' से ''अति परिताप सीय मन माहीं। लव निमेष जुग सय सम जाहीं॥'' (मा० बा० २५७) तक।

'कहब महेस'; यथा—''मन ही मन मनाव अकुलानी। होहु प्रसन्न महेस भवानी॥ करहु सुफल आपनि सेवकाई। करि हित हरहु चाप गरुआई॥'' (मा० बा० २५६)।

कोई-कोई 'कहब महेस' इसका यह अर्थ करते हैं कि शिवजी का ऐसा कहना है कि 'तमकि ताहि ये तोरिहि'। इसका प्रमाण वे इस वाक्य से लेते हैं; यथा—''कुलिस कठोर कूर्म पीठि ते कठिन अति, हठि न पिनाक काहू चपरि चढ़ायो है। तुलसी सो राम के सरोज पानि परस ते टूट्यो मानो बारे ते पुरारि ही पढ़ायो है॥'' (क० बा० १०)।

मेरे विचार में 'मानो' पद से उपमा वैसी दी गई है, शिवजी ने वैसा कह नहीं रक्खा था। वाल्मीकीय रामायण बालकांड सर्ग ७५ में कथा है कि विष्णु-

शिव संग्राम में यह धनुष विष्णु हुंकार से जड़ हुआ था, उसी समय इसे शिवजी ने जनक के पूर्वजों को दे दिया था। इस समय विष्णु के अभिन्न रूप श्रीरामजी के हाथ से टूटा है। जड़ होने पर शिवजी इसे लचा नहीं सकते थे, तभी तो उन्होंने अन्यत्र दे दिया था।

शिवजी आशुतोष और अवढर दानी हैं, इससे सखियों को विश्वास है कि शिवजी से हम सब कहेंगी तो वे इसे श्रीरामजी के द्वारा तोड़वा देंगे।

अलंकार—'वाचकलुप्तोपमा' है।

'धनु' उपमेय, 'कमठ पीठ' उपमान और 'कठिन' धर्म है, वाचक पद (समान आदि) लुप्त है। 'कठिन' इस पद में 'देहली दीपक' अलंकार भी है।

यहाँ 'कठिन अँदेश' का निराकरण अगले पद से करते हैं—

[१५]

नृप निरास भये निरखत नगर उदास।
धनुष तोरि हरि सब कर हरेउ हरास॥

शब्दार्थ—हरास (फ़ा० हिरास)—१ भय, २ आशंका, ३ दुःख, ४ निराशता; (सं० ह्रास) = कमी, क्षीणता, अवनति, वैभव आदि की कमी।

अर्थ—जब धनुष तोड़ने की चेष्टा कर सब राजा निराश हो गये, यह देख कर सारा नगर उदास हो गया; तब धनुष तोड़ कर हरि (क्लेशहर्त्ता श्रीरामजी) ने सब (नगर भर) की निराशता का हरण कर लिया।

विशेष—'नृप निरास भये'; यथा—"सब नृप भये जोग उपहासी। जैसे बिनु बिराग संन्यासी॥ कीरति बिजय बीरता भारी। चले चाप कर बरबस हारी॥ श्रीहत भये हारि हिय राजा।...तजहु आस निज-निज गृह जाहू।" (मा० बा० २५१); 'नगर उदास'; यथा—"जनक बचन सुनि सब नरनारी। देखि जानकिहि भये दुखारी॥" (मा० बा० २५१)।

'धनुष तोरि हरि...'; यथा—"सब कर संसउ अरु अज्ञानू।...सुर मुनिबरन्ह केरि कदराई॥ सिय कर सोच जनक पछतावा। रानिन्ह कर दारुन दुख दावा॥ संभु चाप बड़ बोहित पाई। चढ़े जाइ सब संग बनाई॥ संकर चाप जहाज, सागर रघुबर बाहुबल। बूड़ सो सकल समाज, चढ़ा जो प्रथमहि मोह बस॥ प्रभु दोउ चापखंड महि डारे। देखि लोग सब भये सुखारे॥"

(मा० बा० २५९-२६१)। "सखिन सहित हरषीं सब रानी। सूखत धान परा जनु पानी॥ जनक लहेउ सुख सोच बिहाई। पैरत थके थाह जनु पाई॥ ... सीय सुखहि बरनिय केहि भाँती।" (मा० बा० २६२)।

श्रीजनकजी ने कहा था कि कन्या कुँआरी ही भले रहे, पर मैं प्रण नहीं छोड़ूँगा, इस पर सब निराश हो गये थे, वह निराशता धनुष टूटने पर दूर हो गई। सबकी निराशता हरण के अनुकूल हरि पद उत्तम आया है।

'सब कर'—इस पद में नगर के अतिरिक्त राजा जनक, उनकी रानियाँ और श्रीजानकीजी आदि सभी की निराशता हरण का भाव है। जिन-जिन के मन में धनुर्भङ्ग की चिन्ता थी, सभी की चिन्ता दूर हो गई।

अलंकार—१ 'वृत्यनुप्रास', २ 'परिकराङ्कुर', ३ 'तृतीयप्रहर्षण' हैं।

१ लक्षण—जहाँ एक वा अनेक भिन्न-भिन्न व्यंजनों का कई बार सादृश्य हो, वहाँ 'वृत्यनुप्रास' अलंकार होता है।

यहाँ 'नृप' 'निरास' 'निरखत' 'नगरु' तथा 'हरि' 'हरेउ' 'हरास' आदि ऐसे ही आए हैं।

२ लक्षण—जहाँ विशेष्य साभिप्राय विशेषण से कथन किया जाय, वहाँ वह 'परिकराङ्कुर' अलंकार होता है।

यहाँ पर 'हरास' हरण के अनुकूल 'हरि' विशेषण ऐसा ही है।

३ लक्षण—'सोधत जाके जतन को, वस्तु चढ़इ कर आन।' (भानु)

अर्थात् जिसके उपाय की खोज हो रही हो और वह स्वतः प्राप्त हो जाय, ऐसे स्थलों पर 'तृतीय प्रहर्षण' अलंकार होता है।

यहाँ पर 'उदास नगर' धनुष तोड़ने वाले को चाह रहा था, वह कामना उसकी स्वतः सिद्ध हो गई। अतः, यहाँ यह अलंकार है। तथा—"यहि विधि मन विचार कर राजा। आइ गये कपि सहित समाजा॥" (मा० सुं० २८)।

कोहबर-प्रसंग

[१६]

का घूँघुट मुख मूँदहु नवला नारि।
चाँद सरग पर सोहत यहि अनुहारि॥

शब्दार्थ—नवला=नवोढ़ा, वह नायिका जो नायक से लज्जा और भय रखती हो। सरग = आकाश। अनुहारि (अनुहार)=१—सदृश, समान। २ आकृति, सादृश्य; (सं० अनुहारिन्)=अनुकरण करने वाली।

अर्थ—हे नवोढ़ा स्त्रियो! अपने मुखों को घूँघट में क्यों छिपाती हो? इस (तुम्हारे मुख) की आकृति का चन्द्रमा तो आकाश पर शोभा दे रहा है।

विशेष—कोहबर प्रसंग में एवं खिचड़ी के दिन जनकपुर में सीताजी की सम-अवस्था की सखियाँ श्रीरामजी के पास कुछ हँसी करने की इच्छा से आईं, पर सामने आने पर लज्जा से घूँघट काढ़ने लगीं। इस पर श्रीरामजी ने पहले ही कहा—हे नवला स्त्रियो! आप सब ऐसे रूप वैभव से युक्त होकर भी कृपण क्यों बनती हैं, ऐसे धनियों को तो उदार होना चाहिये। देखिये चन्द्रमा आपके सदृश सुन्दर है, पर वह ऐसा उदार है कि विना आवरण के आकाश में (बहुत ऊँचे) रह कर शोभा देता रहता है कि सब को उसके दर्शन से सुख प्राप्त होता रहे।

आप ऐसे अपार सौन्दर्य की निधि होकर उदारता प्रसंग में चन्द्रमा से न्यून क्यों बनती हैं। अच्छा, यदि आप अपना मुख नहीं दिखायेंगी तो हम इसी के सदृश चन्द्रमा को ही देख कर सन्तोष करेंगे।

'यहि अनुहारि' इसका श्लेष करके दूसरा अर्थ करने से यह भी भाव आता है कि आपको चन्द्रमा का अनुसरण करना चाहिये, मुख खोल कर हम सब को दर्शन दे सुख प्रदान करना चाहिये। जब चन्द्रमा तुम्हारे सदृश ही है तो इस अंश में आप कम क्यों बनती हैं।

अलंकार—'प्रतीप' का प्रथम भेद है।

लक्षण—"सो प्रतीप उपमेय सम, जब कहिये उपमान।
लोयन से अंबुज बने, मुख से चन्द्र बखान॥ (भानु)

अर्थात् प्रसिद्ध उपमान को उपमेय की कल्पना करने में 'प्रतीप' का प्रथम भेद होता है, जैसे नेत्रों के समान कमल और मुख के समान चन्द्रमा।

यहाँ पर मुख के समान चन्द्रमा कहा गया है, इससे मुख का उत्कर्ष कहा गया है। अतः, 'प्रथम प्रतीप' है।

उदाहरण—"उतरि नहाये जमुन जल, जो सरीर सम स्याम॥"
(मा० अ० १०९)।

[१७]

गरब करहु रघुनन्दन जनि मन माँह।
देखहु आपनि मूरति सिय कै छाँह॥

अर्थ—(उपर्युक्त छन्द के उत्तर में श्रीसीताजी की सखियों का वचन है) हे रघुनन्दन श्रीरामजी! आप अपने मन में अपने रूप का घमंड न करें; आप अपनी मूर्त्ति देखें और फिर (हमारी सखी) श्रीसीताजी की छाया देखें (; अर्थात् श्रीसीताजी के रूप की छाया के समान ही आपकी श्याम मूर्त्ति है)।

विशेष—श्रीसीताजी के साथ श्रीरामजी विराजमान हैं। सखियों ने सामने रक्खे हुए शीशे में दोनों के प्रतिबिंब देखे। प्रतिबिंब किसी का भी श्याम ही होता है। इस पर सखियों ने युक्ति से अपना पक्ष बना लिया, कहा कि देखिये, आपकी श्याम मूर्त्ति श्रीसीताजी की छाया के समान है। मिलाकर देख लीजिये। इस प्रकार श्रीसीताजी के रूप की प्रशंसा की है।

अलंकार—'प्रतीप' का द्वितीय भेद है।

लक्षण—"उपमे को उपमान ते, आदर जबै न होय।
गर्व करत मुख को कहा, चन्दहि नीको जोय॥" (भानु)

अर्थात्—उपमान से जब उपमेय का अपमान हो, तब 'द्वितीय प्रतीप' होता है, जैसे यहाँ चन्द्र उपमान से उपमेय का आदर नहीं हुआ।

यहाँ छन्द में उपमान रूपी श्रीसीताजी की छाया से उपमेय श्रीराम रूप का निरादर हुआ है। अतः 'द्वितीय प्रतीप' है।

उदाहरण—"नाँघहिं खग अनेक बारीसा। सूर न होहिं ते सुनु सब कीसा॥" (मा० लं० २७)।

अव०—यहाँ श्रीसीताजी और श्रीरामजी आलंबन विभाव हैं, सखियाँ उद्दीपन विभाव हैं। सखियों ने श्रीरामजी के हृदय में रस उद्दीप्त करने के लिये उपर्युक्त वचन कहे। उससे उन पर सात्त्विक अनुभाव के लक्षण देख पड़े। तब उन्होंने कहा—

[१८]

उठी सखी हँसि मिस करि कहि मृदु बैन।
सिय रघुबर के भये उनींदे नैन॥

शब्दार्थ—मिस = ब्याज, बहाना। उनींदे (सं० उन्निद्र) = निद्रायुक्त।

अर्थ—सखियाँ हँसकर बहाना करके कोमल वचन से यह कह कर कि श्रीसीताजी और रघुनन्दन श्रीरामजी के नेत्र अब निद्रायुक्त हो रहे हैं, वहाँ से उठकर (अपने-अपने स्थलों को, चली गईं।

विशेष—सखियों ने समझ लिया कि अब उपर्युक्त उद्दीप्ति के फल-स्वरूप में रति-स्थायी भाव जाग्रत हो रहा है। अतएव अब हम सब का यहाँ रहना उचित नहीं और इस बात का स्पष्ट करना भी ठीक नहीं, इससे बहाना करके उठ गईं, बहाना की बात 'सिय रघुबर के भये उनींदे नैन' इससे व्यङ्गय भाव से उक्त भाव को प्रकट कर परस्पर जान लिया।

अलंकार—'पर्य्यायोक्ति का द्वितीय भेद' है।

लक्षण—"मिस करि कारज साधिये, दूजो भेद विशाल।
तुम दोऊ बैठो यहाँ, जात नहावन ताल॥" (भानु)

यहाँ बहाना करके सखियों ने अपने जाने का कार्य साधा है, इससे यह अलंकार है।

उदाहरण—"एहू मिस देखौं पद जाई। करि बिनती आनौं दोउ भाई॥"
(मा० बा० २०५)।

इसी भाव को महाकवि विहारी ने भी एक दोहे में कहा है—

पति रति की बतियाँ कही, सखी चलीं मुसुकाय।
कै-कै सबै टलाटली, अली चलीं सुख पाय॥

मिलान कर देखिये, दोनों का अभिप्राय एक ही है। परन्तु बरवै वर्णन में स्वाभाविकता है और मर्यादा का निर्वाह है गूढ़ व्यञ्जना से भाव प्रकट किया गया है। दोहे में पति की रस अनभिज्ञता एवं निर्लज्जता स्पष्ट है।

[१९]

सींक धनुष हित सिखन सकुचि प्रभु लीन।
मुदित माँगि इक धनुही नृप हँसि दीन॥

शब्दार्थ—सींक=मूँज आदि की पतली तीली, किसी घास का महीन डंठल। धनुही=छोटा धनुष।

अर्थ—(बाल्यावस्था में) प्रभु श्रीरामजी ने सींक का धनुष संकोच पूर्व

सिखने के लिये लिया; (यह देखकर) राजा दशरथ ने मानसिक आनंद से भर कर और हँस कर एक छोटा धनुष (बालकों को खेलने योग्य अस्त्रागार से) मँगा कर दिया।

विशेष—'सींक धनुष···'—सींक का धनुष बना कर प्रभु ने संकोच पूर्वक सीखने के लिये लिया, क्योंकि ब्रह्माजी का वरदान रावण के लिये नर के हाथ से मरने का है। अतः, तेजस्वी राजा दशरथ के यहाँ प्रभु ने अवतार लिया है। फिर भी नर नाट्य में बच्चेपन में कुलोचित खेल खेलना है, इससे सींक का धनुष लिया। प्रभु को असमर्थ बालक के समान सींक का धनुष लेते हुए हृदय में संकोच है, पर मनुष्य का स्वाँग निबाहना है।

'मुदित माँगि '—राजा दशरथ ने देखा कि बच्चे में अपने कुल के अनुकूल वीररस का अंकुर उठा है। अतः, मन में मोद है। राजा ने हँस कर छोटा धनुष दिया क्योंकि राजा ने गुरुजी से एवं ज्योतिषियों से सुन रक्खा है कि श्रीरामजी आदि 'त्रिभुवन विदित भगत भय हारी' बड़े भारी वीर एवं धनुर्धर होंगे। अच्छा ! अभी यह धनुही लो।

यह छन्द छठे के पश्चात् रहना चाहता था; क्योंकि इसमें प्रभु की बाल्यावस्था का वर्णन है। पर जान पड़ता है कि पहले ही संग्रह कर्त्ता की अनवधानता से यहाँ रक्खा गया है। यदि यह कहा जाय कि यह ठीक है, राजा को वात्सल्याधिक्य से श्रीरामजी उन्हें बच्चा ही दिखते हैं, यह ठीक नहीं है; क्योंकि विश्वामित्रजी के साथ जाने के पूर्व ही प्रभु मृगया करते थे, बड़े-बड़े सिंह आदि का बध करते थे, यह चरित भाग में स्पष्ट है। फिर ब्याह करके आने पर प्रभु ही ऐसी धनुष लें, यह उन्हें संगत नहीं है, यह तो पाँच वर्ष की अवस्था की लीला है, अस्तु, मैंने भी प्राचीन क्रमानुसार ही रक्खा है।

अलंकार—'सूक्ष्म' तथा 'स्वभावोक्ति' हैं।

लक्षण—"सूछम पर आशय लखैं, करैं क्रिया कछु भाय।
मैं देख्यो उन शीशमनि, केशव लियो छिपाय॥" (भानु)

अर्थात् संकेत देख संकेत ही में उत्तर देने में 'सूक्ष्म' अलंकार होता है, जैसे पति ने रति की इच्छा से देखा, तब पत्नी ने शीशमणि केशों में छिपा कर उत्तर सूचित किया कि रात में।

यहाँ पर प्रभु ने सकुच कर सींक धनुष लिया और तदनुसार राजा ने हँस कर छोटी धनुही ही दी। अतः, 'सूक्ष्म' अलंकार है। तथा—"सीतहि सभय देखि रघुराई। कहा अनुज सन सैन बुझाई।" (मा० अर० १६);

बाल अवस्था के अनुकूल लीला-वर्णन में 'स्वभावोक्ति' भी स्पष्ट है। लक्षण एवं उदाहरण आगे पद २५ में देखिये।

अयोध्याकाण्ड

[२०]

सात दिवस भये साजत सकल बनाउ।
का पूंछहु सुठि राउर सरल सुभाउ॥

शब्दार्थ—बनाउ = अभिषेक की सजावट। राउर=आप का। सुठि सरल= अत्यन्त सीधा-सादा।

अव०—राजा दशरथ के हृदय में कई कारणों से अति शीघ्र श्रीरामजी को युवराज बनाने की इच्छा हुई। तुरत उन्होंने गुरु एवं मंत्रियों से सम्मति कर निश्चित किया कि कल प्रातःकाल पुष्य नक्षत्र में श्रीरामजी का अभिषेक होगा— सजावट होने लगी। उधर देवताओं ने शारदा के द्वारा मन्थरा और कैकेयीजी की मति फेरी। मन्थरा छत पर गयी, चारों ओर सजावट की धूम देखकर उसने श्रीरामजी की धाय से पूछा। राम-तिलक सुनते ही वह घबरा कर उतरी उसकी उदास चेष्टा पर रानी कैकेयी ने पूछा, इस पर मन्थरा कहती है—

अर्थ—श्रीरामजी के राज्याभिषेक की समस्त सजावट होते हुए सात दिन हो गये (आपको सूचना तक नहीं,) आप मुझसे क्या पूछ रही हैं ? वास्तव में आपका स्वभाव अत्यन्त सीधा-सादा है।

विशेष—'सात दिवस भये'—मन्थरा के देखने के पूर्व एक प्रहर भर के लगभग सजावट होते हुए होंगे, परन्तु वह सात दिन कह रही है; क्योंकि जितनी सजावट उसने देखी है, उसकी समझ में वह सब सात दिन में हो सकती थी। रामराज्य की अत्यन्त अभिलाषा सब को थी। अतः, धूमधाम से लोग सजावट कर रहे थे। इससे शीघ्र ही बहुत कुछ कर लिये थे।

श्रीरामचरितमानस में मन्थरा ने पन्द्रह दिन पहले से सजावट होने की

बात कही है; यथा—"भयेउ पाख दिन सजत समाजू। तुम्ह पाई सुधि मोसन आजू॥" (मा० अ० १८)। कल्पभेद से इसकी सङ्गति होती है, किसी कल्प में मन्थरा ने वैसा भी अनुमान किया और कहा है। किसी-किसी का यों भी अनुमान है कि इस ग्रन्थ में और कहीं पर चरितचित्रण में ग्रंथकार के और ग्रन्थों से भेद नहीं है। केवल यहीं पर 'पाख दिन' के स्थान पर 'सात दिन' आ गया है। सम्भव है कि प्रतिलिपिकारों की भूल से 'पाख' का 'सात' हो गया है, क्योंकि इन शब्दों में मात्रा समान ही हैं।

मन्थरा इस कथन से सिद्ध करती है कि राजा नित्य आपके यहाँ सोते हैं और आपको सब रानियों से अधिक मानते हैं, फिर राम-राज्याभिषेक जैसी महत्त्वपूर्ण बात की वे कभी आपसे चर्चा भी नहीं करते। सात दिनों से सजावट हो रही है। आपको कुछ पता नहीं, क्या इससे राजा का कपट भाव सिद्ध नहीं है? इस भाव से पूर्वार्द्ध में 'वाच्यार्थ व्यंग्य' एवं सकारादि शब्दों से 'वृत्यानुप्रास' भी है।

'का पूछहु सुठि ···'—व्यंग्य से भाव प्रकट करती है कि तुम मूर्ख हो, अभी सचेत हो जाओ। राजा के कपट व्यवहार के प्रति अपनी रक्षा करो।

अलंकार— काकु वक्रोक्ति' है।

लक्षण—"जहाँ कंठ ध्वनि भिन्न ते, आशय जुदो लखाय।
सो वक्रोक्ती काकु है, कविवर कहहिं बुझाय॥" (भानु)

यहाँ 'का पूछहु···' इसका वाच्यार्थ तो यह है कि आपका स्वभाव अत्यन्त सीधा एवं सुन्दर है, पर ध्वनि विशेष से यह भाव प्रकट होता कि तुम निरी मूर्खा हो। अतः, यहाँ 'काकु वक्रोक्ति' है।

[२१]

राज भवन सुख बिलसत सिय सँग राम।
बिपिन चले तजि राज सुबिधि बड़ बाम॥

अव०—कैकेयीजी ने वरदान माँगकर श्रीरामजी को वनवास दिया, श्रीरामजी वन को चलने लगे, उस समम पुरजनों का पश्चात्ताप है –

अर्थ—श्रीरामजी श्रीसीताजी के साथ राजमहल में सुख विलास कर रहे

थे। वे ही अब राज्य-सुख छोड़ कर वन को जा रहे हैं, (इससे तो जान पड़ता है कि) विधाता बड़ा कुटिल है।

विशेष 'राज भवन सुख बिलसत ··'; यथा—"भूपति भवन सुभाय सुहावा। सुरपति-सदन न पटतर आवा।। मनिमय-रचित चारु चौवारे। जनु रतिपति निज हाथ सँवारे।। सुचि सुबिचित्र सुभोगमय, सुमन सुगंध सुवास। पलँग मंजु मनि दीप जहँ, सब बिधि सकल सुपास।। बिबिध बसन उपधान तुराई। छीरफेन मृदु बिसद सुहाई।। तहँ सिय-राम सयन निसि करहीं। निज छबि रति मनोज मदु हरहीं।। ते सिय राम साथरी सोये। श्रमित बसन बिनु जाहिं न जोये।। मातु पिता परिजन पुरबासी। सखा सुसील दास अरु दासी।। जोगवहिं जिन्हहिं प्रान की नाईं। महि सोवत तेइ राम गोसाईं।। पिता जनक जग बिदित प्रभाऊ। ससुर सुरेस सखा रघुराऊ।। रामचंद्र पति सो बैदेही। महि सोवत बिधि बाम न केही।।" (मा० अ० ८९-९०); निषाद राज के इस प्रसंग में इस छन्द के भाव स्पष्ट हैं।

'बिपिन चले तजि राज'; यथा—"राजिव लोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ की नाईं।।" (क० अ० १+२)।

'बिधि बड़ बाम'; यथा—"सहित बिषाद परस्पर कहहीं। बिधि करतब उलटे सब अहहीं।। निपट निरंकुस निठुर निसंकू। जेहि ससि कीन्ह सरुज सकलंकू।। रूख कलपतरु सागर खारा। तेहि पठये बन राजकुमारा।।" (मा० अ० ११८); "बिधि बाम की करनी कठिन जेहि मातु कीन्हीं बावरी।" (मा० अ० २००)।

अलंकार—१ 'विषाद', २ 'अनुमान प्रमाण', ३ 'उपलब्धि प्रमाण'

१—लक्षण—"सो विषाद चित चाहते, उलटो कछु होइ जाइ।
राज देन कहि दीन्ह बन, बिधि गति जानि न जाइ।।" (भानु)

यहाँ पुरवासी रामराज्य चाहते थे, उल्टा राम-वन-गमन देख रहे हैं और विधि वामता पर झींख रहे हैं। अतः, 'विषाद' अलंकार है।

तथा—"लिखत सुधाकर गा लिखि राहू। बिधि गति बाम सदा सब काहू।।" (मा० अ० ५४)।

२—राज्य सुख भोगते हुए सहसा श्रीराम-वन-गमन के अनुमान से यह बात सिद्ध हुई कि बिधि बाम है। अतः, यहाँ 'अनुमान प्रमाण' है।

३—यहाँ राम-वन-गमन पर कोई कारण न पाकर ब्रह्मा को दोष दिया गया है। अतएव 'अनुपलब्धि प्रमाण' है।

[२२]

कोउ कह नर-नारायन हरि-हर कोउ।
कोउ कह बिहरत बन मधु मनसिज दोउ॥

शब्दार्थ—बिहरत=विहार करते हैं। मधु=वसन्त ऋतु। मनसिज=कामदेव।

अव०—वन मार्ग में श्रीराम-लक्ष्मण चल रहे हैं, इनकी शोभा पर मुग्ध होकर लोग भिन्न-भिन्न अनुमान करते हैं—

अर्थ—कोई कहते हैं कि ये दोनों नर-नारायण हैं, कोई कहते हैं कि ये दोनों विष्णु और शिव हैं और कोई कहते हैं कि ये दोनों वसन्त ऋतु और कामदेव हैं, वन में विहार कर रहे हैं।

विशेष—किष्किंधा में श्रीहनुमान्जी ने ऐसा ही अनुमान किया है; यथा—"की तुम्ह तीनि देव महँ कोऊ। नर-नारायन की तुम्ह दोऊ॥" (मा० कि० १); वन-मार्ग-वासियों ने भी कहा है; यथा—"बहुरि कहउँ छबि जसि मन बसई। जनु मधु मदन मध्य रति लसई॥" (मा० अ० १२२)।

यहाँ श्याम वर्ण श्रीरामजी और गौर वर्ण श्रीलक्ष्मणजी हैं। तदनुसार 'नर', 'हर' और 'मधु' गौर और 'नारायन', 'हरि' और 'मनसिज' श्याम हैं। 'बिहरत बन' इस वाक्यखंड से स्पष्ट है कि वाह्य लीला में सीता-हरण का विषाद है, भीतर से तो आप दोनों आनन्द पूर्ण ही हैं; यथा—"कबहूँ जोग-वियोग न जाके। देखा प्रगट बिरह दुख ताके॥" (मा० बा० ४८)।

"रघुपति अनुजहिं आवत देखी। बाहिज चिंता कीन्ह बिसेखी॥" (मा० अर० २९)। इसीसे तीनों उपमाएँ देवों की ही दी गई हैं, क्योंकि आप दोनों के दिव्य शरीरों में किसी प्रकार की विवर्णता नहीं है। किष्किंधा में प्रथम दर्शन पर हनुमान्जी ने भी आपके दिव्य शरीर पर ही देवबुद्धि से प्रणाम कर फिर वैसे अनुमान कर प्रश्न किये हैं।

इन २२-२३ छन्दों में केवल श्रीराम-लक्ष्मण का ही वर्णन है, वन-यात्रा

में अन्यत्र ऐसे प्रसंगों में श्रीजानकीजी का भी साथ वर्णन है। रामचरितमानस एवं गीतावली आदि देखिये। अतः, ये छन्द सम्भवत: अरण्य एवं किष्किन्धा काण्ड के होंगे और संग्रह करने में यहाँ रखे गये होंगे, ऐसा अनुमान होता है।

अलंकार—'प्रथम उल्लेख'।

लक्षण—"सो उल्लेख जु एक कौं, बहु समुझैं बहु रीति।
जाचक सुरतरु तिय मदन, अरिको काल प्रतीति॥" (भानु)

यहाँ पर एक श्रीराम-लक्ष्मण को तीन प्रकार के लोगों ने तीन प्रकार कहा है, इससे 'प्रथम उल्लेख' स्पष्ट है।

तथा—"जिन्हके रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन्ह तैसी॥" से "जेहि बिधि रहा जाहि जस भाऊ। तेहि तस देखेउ कोसलराऊ॥" तक (मा० बा० २४०-२४१)।

[२३]

तुलसी भइ मति बिथकित करि अनुमान।
राम-लखन के रूप न देखेउ आन॥

शब्दार्थ—बिथकित=विशेष थक गई।

अव०—वन मार्ग में श्रीराम-लक्ष्मणजी के रूप पर वन-वासियों ने अनुमान करके ऐसा कहा है—

अर्थ—श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि वनवासियों ने कहा है—अनुमान करते-करते बुद्धि विशेष थक गई, परन्तु श्रीराम-लक्ष्मण के रूप के समान हमें अन्य उपमान नहीं देख पड़े।

विशेष—वनवासियों ने इस पर विचार किया है कि ब्रह्मा की सृष्टि में सभी योनि के जीव अनन्त हैं, जैसे कि एक आम के समान करोड़ों आम हैं, एवं एक गाय के समान करोड़ों हैं, ऐसे सभी योनि के जीवों के विषय में जानना चाहिये, परन्तु श्रीराम-लक्ष्मण के समान और कोई नहीं हैं, इससे ये ब्रह्मा की सृष्टि से बाहर के हैं; यथा—"एक कहहिं ए सहज सोहाए। आपु प्रगट भए बिधि न बनाए॥ जहँ लगि बेद कही बिधि करनी। श्रवन नयन मन गोचर बरनी॥ देखहु खोजि भुवन दस चारी। कहँ अस पुरुष कहाँ असि नारी॥ इन्हहिं देखि बिधि मन अनुरागा। पटतर जोग बनावइ लागा॥

कीन्ह बहुत श्रम ऐक न आए। तेहि इरिषा बन आनि दुराए॥" (मा० अ० ११६); इस प्रसंग से बुद्धि का श्रम कर अनुमान करके थकना और श्रीराम-लक्ष्मण के समान अन्य के रूप का न होना स्पष्ट है।

यहाँ पर उपमा की खोज की गई, पर 'न देखेउ आन' इस पद में यह ध्वनि है कि अन्य नहीं है, पर अपनी उपमा ये स्वयं हैं। अतः—

अलङ्कार—'अनन्वयोपमा' तथा—'वाचक उपमान-धर्म लुप्तोपमा' है।

लक्षण—"जाकी उपमा ताहिं सों, दिये अनन्वय मान।
तेरे मुख की जोड़ को, तेरो ही मुख जान॥" (भानु)

तथा—"उपमा न कोउ कह दासतुलसी कतहुँ कवि कोविद कहैं।
बाल विनय विद्या सील सोभा सिंधु इन्ह सम एइ अहैं॥"
(मा० बा० ३१०)।

"इन्ह सम ये उपमा उर आनी।" (मा० बा० ३१६); इत्यादि। यहाँ 'राम लखन के रूप के समान राम-लखन ही हैं' ऐसा स्पष्ट नहीं कहा गया, इससे कोई-कोई यहाँ 'लुप्त अनन्वय' अलंकार कहते हैं।

[२४]

तुलसी जनि पग धरहु गंग महँ साँच।
निगा नाँग करि नितहिं नचाइहि नाच॥

शब्दार्थ—निगा नाँग करि (अवधी मुहावरा है)=नितान्त नंगा करके। नचाइहि नाच (यह भी मुहावरा है)=बहुत दुःख देगी।

अव०—श्रीरामजी गंगाजी के तट पर पहुँचे और उन्होंने केवट से नाव माँगी। केवट चरणोदक लेना चाहता था, इसलिये उसने नाव को कुछ जल में रख छोड़ा था कि मैं चरण धोकर तब नाव पर चढ़ने दूँगा। अतः, माँगने पर नाव नहीं लाई। तब श्रीरामजी श्रीगंगाजी में कुछ पैठ कर नाव किनारे लाने की चेष्टा करने लगे, इस पर उसने समझा कि यदि ये जल में पैठ आवेंगे तो चरण धुल जायँगे। फिर मुझे चरणरेणु का लाभ कैसे होगा? इसलिये वह युक्ति बनाकर कहता है—

अर्थ—श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि केवट श्रीरामजी से कहता है—मैं सत्य कहता हूँ, आप गंगाजी में पैर न रक्खें (आपके इस कृत्य से मेरी बड़ी

भारी हानि होगी। आपके चरणरेणु के छू जाते ही मेरी नाव मुनिपत्नी अहल्या की नाईं दिव्य तन की स्त्री हो जायगी। तत्काल ही उसे वस्त्र देना ही पड़ेगा रही-सही धोती उसे देनी पड़ेगी) तब मैं नितान्त नंगा हो जाऊँगा, फिर वह स्त्री, अपने दिव्य तनु की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये नित्य तंग किया करेगी (क्योंकि अपने जाति की स्त्री होती तो थोड़े में निर्वाह कर लेती और साथ में काम भी करती)।

विशेष—केवट ने विचारा कि इन चरणों के धोने का मेरा भाग्य कहाँ! राजा जनक ने भी कन्या देकर धोया है इससे उसने युक्ति से अपने चरणोदक लेने की क्रिया को तो छिपा रक्खा है और युक्ति से अहल्योद्धार के प्रसंग को लेकर चरण धोना चाहता है अतः, अपनी कई हानि दिखाता है—

(१) आपके चरण धूलि के स्पर्श से मेरी नाव 'छूमंतर' हो जायगी, मेरे बाल-बच्चे खाने बिना मरेंगे, राह पड़ जायगा, मेरी घरवाली तङ्ग करेगी कि रही सही वृत्ति क्यों नष्ट कर डाली।

(२) नाव स्त्री हो जायगी, वह दिव्य तन की होगी, पहले ही नंगा बना देगी, उसकी आवश्यकताएँ मैं पूरी न कर सकूँगा, तो बहुत प्रकार से तंग किया करेगी। फिर वह मुझ नीच के यहाँ नहीं रहेगी, 'मुनि घरनी होइ जायगी' मेरे हाथ क्या लगेगा ? मैं नितान्त नङ्गा ही रह जाऊँगा। 'साँच' इस पद में रामचरितमानस के इस छन्द का भाव है—

"पद कमल धोइ चढ़ाइ नाव न नाथ उतराई चहउँ।
मोहिं राम राउरि आन दसरथ सपथ सब साँची कहउँ॥
बरु तीर मारहु लखन पै जब लगि न पायँ पखारिहउँ।
तब लागि न तुलसीदास नाथ कृपालु पार उतारिहौं॥१००॥

अलंकार—'युक्ति' और 'सूक्ष्म' है।

१—लक्षण—"युक्ति यहै कीने क्रिया, मर्म छिपायो जाय।
पीव चलत आँसू चले, पोंछत नैन जँभाय॥" (भानु०)

यहाँ केवट ने युक्ति से अपने चरणोदक लेने के भाव को छिपाया है और युक्ति से ही प्रकट करता है कि मैं चरणोदक लेकर पार जाने दूँगा। श्रीरामजी

सीधे खड़े है, वह अपनी ही ओर से गंगा में पैठने की भी बात कहता है, इससे 'युक्ति' अलङ्कार है।

तथा—"बहुरि बदन विधु अंचल ढाँकी। पियतन चितइ भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नैननि। निज पति कह्यो तिन्हें सिय सैननि॥"
(मा० अ० ११६)।

बरवै के उत्तरार्द्ध में 'व्यत्यनुप्रास' भी है, छन्द १५ में लक्षण लिखा गया है। २—'सूक्ष्म' का लक्षण पद १९ में लिखा गया।

यहाँ 'जनि पग धरहु' इस पद में ध्वनि है कि श्रीरामजी का गंगा में पैठ नाव-ग्रहण का संकेत जानकर इसने संकेत से ही उत्तर दिया है, इससे यह अलंकार भी है।

[२५]

सजल कठौता कर गहि कहत निषाद।
चढ़उ नाव पग धोइ करहु जनि बाद॥

अर्थ—जल से भरा हुआ कठौता हाथ में लेकर निषाद (केवट) कहता है—महाराज! इसमें चरण धोकर नाव पर चढ़िये, (व्यर्थ) वाक्कलह न कीजिये।

विशेष—'सजल कठौता कर गहि'—केवटों के पास नाव का जल उलीचने के लिये प्रायः कठौती ही रहती है, उसी में जल भर लाया। यथा—"छोटो सो कठौता भरि आनि पानी गंगाजी को, धोइ पाइ पियत पुनीत बारि फेरि-फेरि॥" (क० अ० १०); कठवता इस विचार से भी लाया कि जिससे उसकी पूर्व की बात ठीक समझी जाय। इससे मानों वह परीक्षा भी लेता है कि यदि कठौती स्त्री हो जायगी, तो कह दूँगा कि देखिये, मेरी बात ठीक ही है और नाव तो बच गई, इत्यादि। यह भी भाव है कि इसीमें सदा रसोई रक्खी जायगी तो वह महाप्रसाद हो जाया करेगा। तथा इससे भी कठौती ही लाया कि श्रीरामजी उदासीन वेष में हैं। अतः, धातुपात्र न छूते होंगे, आगे उतराई देने में श्रीजानकीजी ने मणि मुँदरी ही श्रीरामजी को दी है और लंका से भी हनुमान्‌जी के द्वारा चूड़ामणि ही दी है, मणि पाषाण विशेष है, धातु नहीं।

'कहत निषाद'—वह चरणोदक लेने को उतावला है, इससे हाथ में

कठौता भरकर खड़ा, है और कहता है, बस, शीघ्र पाँव धुला लीजिये, आपको भी धूप हो रही है और मुझे ता और भी काम देखना है।

'चढ़हु नाव……'—पग धुला लीजिये और नाव पर चढ़िये, इसमें आप की कोई हानि नहीं है और मैं बड़ी भारी हानि से बच जाऊँगा। वाक्लह करने का कोई कारण नहीं है।

'करहु जनिबाद'—आपको नीच के साथ बाद करना उचित नहीं और मुझे तो राजा गुहाराव का भारी डर है। वे अप्रसन्न होंगे कि यह महाराजा से बात लड़ाता है; यथा—"प्रभु सों निषाद ह्वै के बाद न बढ़ाइहौं।" (क०अ०८); अतः, व्यर्थ वाद करके विलम्ब न कीजिये।

अलङ्कार—'गूढ़ोत्तर' तथा 'स्वभावोक्ति'

१—लक्षण—"गूढ़ोत्तर कछु भाव तें, उत्तर दीने होत।" (भानु)

अर्थात् साभिप्राय उत्तर को गूढ़ोत्तर कहते हैं।

यहाँ पर श्रीरामजी ने नाव माँग कर पार उतारना कहा था, वह चरणोदक लेने का गूढ़ भाव रखकर ऊपर से चरण धुलाने को विवश कर रहा है। अतः, यह अलङ्कार है।

तथा—"कह दसकंठ कौन तैं बंदर। मैं रघुबीर दूत दसकंधर॥"

(मा० लं० १९)।

२—केवट गँवार एवं अशिष्ट की भाँति अपने जाति-स्वभाव से ही इतने बड़े महाराजा से 'करहु जनि बाद' ऐसा कहता है, इस प्रकार देहाती गँवारों का स्वभाव कहा गया है, इससे यहाँ 'स्वभावोक्ति' अलङ्कार है। इसका लक्षण—"स्वभावोक्ति तहँ जानिये, जहँ स्वभाव कहि जाय॥" (भानु) तथा—"कहउँ सुभाउ न कुलहि प्रसंसी। कालहु डरहिं न रन रघुबंसी॥" (मा० बा० २८३); "रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहु बरु बचन न जाई॥" (मा०अ० २७)

[२६]

कमल कंटकित सजनी कोमल पाय।
निसि मलीन यह प्रफुलित नित दरसाय॥

शब्दार्थ—कंटकित=काँटेदार, कंटकयुक्त। पाय=चरण, पैर।

अव०—वनमार्ग में श्रीराम-लक्ष्मण और श्रीजानकीजी चले जा रहे थे।

यहाँ वनवासिनी स्त्रियों ने इनके चरणों की सुकुमारता एवं कमलवर्णता पर कहा है—अहा, इनके चरण तो कमल के समान कोमल हैं, कठोर पृथिवी पर कैसे चलते हैं ? यह सुनकर दूसरी ने कहा—

अर्थ—हे सजनी ! कमल में तो काँटे होते हैं और इनके चरण बड़े कोमल हैं, वह कमल रात में संकुचित होने से मलिन हो जाता है और ये चरण नित्य (रात-दिन) प्रफुल्लित (कमल-दल-समान) ही देख पड़ते हैं (अतएव इनके चरणों को कमल नहीं पा सकता)।

विशेष—यहाँ मृणाल के साथ कमल की उपमा है, क्योंकि कमल के फूल में काँटे नहीं होते। कमल के मृणाल (डंठल) में कठोर काँटे होते हैं, पर चरण के ऊपरी भाग (पद-दंड) में कोमल रोम होते हैं। कमल पुष्प का दल लाल होता है, वैसे चरण के तल भाग लाल हैं (पद तल भी कमल दल से अधिक कोमल हैं)। कमल रात में मलिन रहता है, पर ये नित्य (निरन्तर) प्रफुल्लित ही रहते हैं।

अलङ्कार—'व्यतिरेक' का द्वितीय भेद—पद २ में लक्षण लिखा गया।

वाल्मीकि-वचन

[२७]

द्वै भुज कर हरि रघुबर सुंदर बेस।
एक जीभ कर लछिमन दूसर सेस॥

शब्दार्थ–हरि=विष्णु। सेस (शेष)=शेषनाग।

अव०—जब वनवास में श्रीरामजी वाल्मीकि-आश्रम पर पहुँचे, तब समागम में मुनि ने श्रीराम-लक्ष्मण के ऐश्वर्य का लक्ष्य कराते हुए कहा है—

अर्थ—सुन्दर वेष वाले रघुकुल श्रेष्ठ श्रीरामजी ! आप दो भुजावाले क्लेश-हर्त्ता विष्णु (चार भुजावाले) हैं और एक जिह्वा वाले श्रीलक्ष्मणजी दूसरे शेष (दो सहस्र जिह्वावाले) हैं।

विशेष—श्रीरामचरितमानस में इसी प्रसंग पर महर्षि वाल्मीकिजी के वचन इसी प्रकार हैं; यथा–"श्रुति सेतुपालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी। जो सृजति जग पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की॥ जो सहस सीस अहीस महिधर लखन सचराचर धनी। सुरकाज धरि नरराज तनु चले दलन खल

निसिचर अनी ॥" (मा० अ० १२६)। इस छन्द में वेद मर्यादा रक्षक, जगत् का पालन करने वाले, जगदीश्वर श्रीरामजी जगत् पालक विष्णु के समान और एक सहस्र शिर वाले शेषनाग रूप एवं उनके स्वामी श्रीलचमणजी कहे गये हैं।

श्रीगोस्वामीजी ने श्रीरामचरितमानस में चार कल्पों की कथा का संकेत कर प्रधान रूप में साकेत विहारी परात्पर श्रीरामजी की कथा कही है। जब साकेत लोक से अवतार होता है, तब श्रीराम लक्ष्मण ज्यों के त्यों द्विभुज नराकार ही अवतीर्ण होते हैं। जब वैकुण्ठ से अवतार होता है, तब श्रीरामजी चतुर्भुज से द्विभुज होते हैं और श्रीलच्मणजी शेषरूप से मनुष्य रूप होते हैं।

'सुदर वेस'—दो भुजावाले रूप में चार भुजावाले की अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दरता है। शरीर में एक अँगुली भी प्रमाण से अधिक होती है तो सुन्दरता नहीं रहती, यहाँ तो दो भुजाएँ अधिक हैं; तथा—'जुवती भवन झरोखनि लागीं। निरखहिं राम रूप अनुरागीं॥' 'बिष्नु चारि भुज विधि मुख चारी। बिकट बेष मुखपंच पुरारी॥ अपर देव अस कोउ न आही। एहि छवि सखी पटतरिय जाही॥" (मा० बा० २१६)।

'दीपादुत्पन्न दीपवत्' अर्थात् जैसे एक मूल दीपक से कई दीपक प्रकाशित किये जायँ, तो आदि दीपक उनका मूल रूप होता है, शेष दीपक उसके अंश-भूत होते हैं, परन्तु प्रकाश सब में समान होता है। वैसे ही श्रीराम रूप आदि रूप है। शेष विष्णु-नारायण आदि भगवद्रूप अंशभूत हैं। परन्तु षडैश्वर्य आदि वैभव सब रूपों में समान ही होते हैं। यहाँ पर विष्णु कल्पवाले श्रीराम-लचमण के ऐश्वर्य का वर्णन किया गया है। अन्यत्र भी ऐसा ही कहा गया है—

"गुरु बसिष्ठ समुझाइ कह्यो तब हिय हरषाने जाने सेष सयन।" (गी० बा० ४९)।

"लाल लाड़िले लखन ...धरनी-धरनहार भंजन भुवनभार अवतार साहसी सहसफन के।" (वि० ३७)।

अलङ्कार—'हीन तद्रूप रूपक' है।

लचण—जहाँ उपमान की अपेक्षा उपमेय में गुण कुछ कम होने पर भी दोनों में समता कही जाय, वहाँ यह अलङ्कार होता है; यथा—"सागर ते उपजो न यह, कमला अधिक सुहाइ।" (भानु) तथा—"राम मात्र लघु नाम हमारा। परसु सहित बड़ नाम तुम्हारा॥" (मा० बा० २८१)। यहाँ पर

उपमान दो भुज कम होते हुए भी श्रीरामजी को चार भुजावाले विष्णु का रूप और सहस्रों जीभों की कमी पर भी श्रीलक्ष्मणजी को शेषनाग रूप कहा गया है। अतः, 'हीन तद्रूप रूपक' है। यहाँ आदि कवि की सूक्ति में ग्रंथकार ने अद्भुत कवित्व कला दिखाई है।

अरण्यकाण्ड

[२८]

वेद नाम कहि अँगुरिन खंडि अकास।
पठयो सूपनखाहि लखन के पास॥

शब्दार्थ—वेद = श्रुति; संकेतार्थ-कान। अकास (आकाश)=द्यो, दिव; संकेतार्थ=स्वर्ग=नाक, नासिका।

अव०—श्रीरामजी ने महर्षि अगस्त्य से सम्मत कर पञ्चवटी में निवास किया। एक दिन वे कुछ कथा कह रहे थे, उसी समय रावण की बहन शूर्पणखा वहाँ आई। वह श्रीराम-लक्ष्मण की सुन्दरता पर मोहित हो गई। उसने श्रीरामजी से ब्याह करने की याच्ञा की। उन्होंने अस्वीकार कर उसे लक्ष्मणजी के पास भेज दिया। वहाँ भी अस्वीकृति ही मिली, तब उसने श्रीसीताजी को खा लेने की धमकी दी, इस पर श्रीरामजी ने श्रीलक्ष्मणजी को सङ्केत में समझा कर इस प्रकार कहा है—

अर्थ—वेद का नाम अँगुलियों (के संकेत) से कह, उन्हीं (अँगुलियों) से आकाश का खण्डन किया। (इस प्रकार संकेत से लक्ष्मणजी को समझा कर) उस शूर्पणखा को (श्रीरामजी ने) श्रीलक्ष्मणजी के पास भेजा।

विशेष—'अँगुरिन' यह बहुवचन है। अतः, चार अँगुलियों को आकाश की ओर उठाकर फिर उन्हें झुकाकर वेद और आकाश के पर्यायी उसकी इन्द्रियों का खण्डन करना सूचित किया।

आकाश का गुण शब्द है और आकाश की ओर ईश्वर भी दिखाया जाता है। ईश्वरीय शब्द वेद हैं, वे चार हैं भी। चार अँगुलियों के द्वारा संकेत रहने से चारों वेदों का बोध कराया। वेद का पर्यायी 'श्रुति' पद है और 'श्रुति'

का पर्यायी 'कान' है। पुनः आकाश का पर्यायी 'द्यो' एवं 'दिव' आदि प हैं। 'दिव' का पर्यायी 'स्वर्ग' और 'स्वर्ग' का 'नाक' है। 'नाक' का अ 'नासिका' है। फिर उन्हीं चारो अँगुलियों को मध्य से झुका कर 'दो कान + दो छिद्र युक्त नासिका, इन चारों का खण्डन करना (काटना) समझाया।

आकाश की ओर चार अँगुलियों को उठाकर उन्हें मध्य से झुका दिया, बस, इतने में ही लक्ष्मणजी को समझा दिया—इसके नाक-कान काट लो। लक्ष्मणजी ने वैसा ही किया।

शङ्का—इतने अल्प संकेत से श्रीलक्ष्मणजी ने कैसे समझ लिया।

समाधान—श्रीलक्ष्मणजी ने इससे पहले श्रीजानकीजी की ओट ग्रहण की थी; यथा—"आगे राम अनुज पुनि पाछे। मुनिवर बेष बने अति काछे॥ उभय बीच श्री सोहइ कैसी। ब्रह्म जीव बिच माया जैसी॥" (मा० अर० ६); इसके पीछे श्रीलक्ष्मणजी के पूछने पर श्रीरामजी ने उन्हें गीता का उपदेश दिया, इससे उनको सूक्ष्म दर्शिनी बुद्धि (सदसद्विवेकिनी बुद्धि प्राप्त हो चुकी थी, यथा—"जनकसुता जग जननि जानकी।...जासु कृपा निर्मल मति पावउँ॥" (मा० बा० १७ ; इससे श्रीलक्ष्मणजी ने अल्प संकेत में समझ लिया।

समझ कर लक्ष्मणजी ने उसे कुरूपा कर उसका त्याग किया है, इस प्रकार जीव जब कृपा गुण प्रधान श्रीजानकीजी का शरण लेता है, तो उसे श्रीरामजी सदसद्विवेकिनी बुद्धि देते हैं, इससे वह शास्त्र एवं सत्संग रूपी उनके अल्प संकेत से अविद्या रूपी शूर्पणखा को आसुरीवृत्ति रूप में कुरूपा निश्चि कर उसका त्याग कर शुद्ध मुमुक्षुता प्राप्त करता है।

[यहाँ का यह प्रसंग एवं अविद्या वृत्ति तथा श्रीरामजी के संकेत का रहस्य मेरे लिखे हुए 'श्रीमन्मानस नाम वन्दना' ग्रन्थ 'श्रीवेङ्कटेश्वर प्रेस' बम्ब में कुछ विस्तृत रूप में है।]

अलङ्कार—'युक्ति' है, लक्षण पद २४ में लिखा गया।

यहाँ श्रीरामजी ने संकेत रूपी युक्ति से अपनी क्रिया को छिपाते हु श्रीलक्ष्मणजी को समझाया है। अतः 'युक्ति' अलङ्कार है।

यहाँ पर कोई 'सूक्ष्म' अलङ्कार मानते हैं, वह ठीक नहीं है; क्योंकि सूक्ष्म में दूसरे के संकेत पर संकेत से उत्तर दिया जाता है। 'व्याजोक्ति' भी नहीं है

क्योंकि उसमें उक्ति (कथन) द्वारा अपना मर्म छिपाना होता है, पर यहाँ तो क्रियात्मक संकेत से ही अपना मर्म छिपाते हुए काम किया गया है।

[२६]

हेमलता सियमूरति मृदु मुसुकाइ।
हेम हरिन कहँ दीन्हेउ प्रभुहि देखाइ॥

शब्दार्थ—हेमलता=सोने की लता। हेम हरिन=सोने का मृग (मारीच)।

अव०—शूर्पणखा ने नकटी-बूची होने पर पहले खर-दूषण आदि को उत्तेजित कर लड़ाया, इससे वे नष्ट हुए, तब उसने रावण को उभाड़ा, रावण ने मारीच को सोने का मृग रूप बनाकर श्रीरामाश्रम पर भेजा। श्रीजानकीजी ने उसे देखा, वे मोहित हो गईं, तब उन्होंने श्रीरामजी से इस प्रकार उसके पाने की अभिलाषा प्रकट की है—

अर्थ—सोने की लता के समान सुन्दर श्रीसीताजी की (प्रतिबिंब) मूर्ति ने मधुर मुसुकरा कर प्रभु (परम समर्थ) श्रीरामजी को सोने के मृग (मारीच) को दिखा दिया।

विशेष—'हेमलता सियमूरति'—वास्तविक रूप से श्रीजानकीजी पतिदेव से ऐसी आग्रह न करतीं; यह तो उनकी प्रतिबिम्ब मूर्ति है। यह चपलता का कार्य लीला-विधान में उसीके द्वारा किया गया है; यथा—"कामवृत्तमिदं रौद्रं स्त्रीणाम-सदृशं मतम्। वपुषा त्वस्य सत्त्वस्य विस्मयो जनितो मम॥" (वाल्मी० ३।४३। २१); अर्थात् अपनी इच्छापूर्ति के लिये मैं आपसे जो यह कह रही हूँ, यह कठोर है और स्त्रियों के लिये अनुचित है, यह मैं जानती हूँ, फिर भी इस मृग के देखने से मुझे नितान्त आश्चर्य हो रहा है।

'मृदु मुसुकाइ' यहाँ मृदु मुसुकान के साथ कुछ कहा भी है, यह अन्य ग्रन्थों से स्पष्ट है; यथा—"कपट कुरंग कनकमनिमय लखि पिय सो 'कहति हँसि' बाला। पायो पालिबे जोग मंजु मृग, मारेहुँ मंजुल छाला॥" (गी० अर० ३); तथा—"सीता परम रुचिर मृग देखा। अंग-अंग सुमनोहर बेखा॥ सुनहु देव रघुबीर कृपाला। येहि मृग कर अति सुंदर छाला॥ सत्यसंध प्रभु बध करि येही। आनहु चर्म कहति बैदेही॥" (मा० अर० २६)।

'हेम हरिन कहँ······'; यथा—"प्रिया बचन सुनि बिहँसि प्रेमबस गँवहि

चाप सर लीन्हें। चल्यो भाजि फिरि-फिरि चितवत मुनि मख रखवारो चीन्हें॥ सोहति मधुर मनोहर मूरति हेमहरिन के पाछे।" (गी० अर० ३)। 'प्रभुहि'--श्रीरामजी को प्रभु एवं सत्यसंध कहकर, जिससे वे अवश्य यह कार्य सम्पादन करें; यथा--"सत्यसंध प्रभु बध करि येही। आनहु चर्म कहति बैदेही।" (मा० अर० २६)।

बरवै के 'मृदु मुसुकाइ' इस पद में जैसे कुछ कहने का भाव निहित है, वैसे 'देखाइ' इस पद में भी भेजने की क्रिया गर्भित है। व्यञ्जना द्वारा आशय प्रकट करना काव्य की सुन्दर कला है। अन्यत्र (उपर्युक्त प्रमाणों में) हँसने के साथ कहना और दिखाकर भेजना स्पष्ट है।

अलङ्कार--१--'सम अभेद रूपक' तथा २--'लाटानुप्रास' है।

१--लक्षण--जहाँ उपमेय और उपमान की एकरूपता पूर्णरूप से कही जाय, वहाँ यह 'सम अभेद रूपक' अलंकार होता है; यथा--"तुव मुख पंकज बिमल यह, धरत सुवास अछेह।" (भानु) यहाँ 'हेमलता' इस उपमान की 'सिय मूरति' इस उपमेय में पूर्ण रूप से एकरूपता कही गई है। अतः 'सम अभेद रूपक' अलङ्कार है। तथा--"संपति चकई भरत चक, मुनि आयसु खेलवार। तेहि निसि आश्रम पिंजरा, राखे भा भिनसार॥" (मा०अ० २१५)। "राम कथा सुंदर करतारी। संसय बिहँग उड़ावनि हारी॥" (मा०बा० ११३)।

२ – हेमलता और हेम हरिन में हेम शब्द से 'लाटानुप्रास' है।

लक्षण--"शब्द अर्थ एकै रहै, तात्पर्य में भेद।" (भानु)।

[३०]

जटा मुकुट, कर सर धनु, संग मरीच।
चितवनि बसति कनखियनु अँखियनु बीच॥

शब्दार्थ—कनखियन (सं० कोण—अक्षि)=पुतली को आँख के कोने की ओर ले जाकर देखना, तिरछी चितवन।

अर्थ—(शिर पर) जटाओं का मुकुट बनाये और हाथों में धनुष-बाण धारण किये हुये श्रीरामजी मृगरूप मारीच के साथ (पीछे-पीछे) जा रहे हैं (श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीरामजी) तिरछी चितवन से (पीछे श्रीसीताजी की ओर) देखते जाते हैं, यह चितवन मेरी आँखों के बीच बस रही है।

विशेश—इस प्रसंग की छटा गीतावली अर० ५ में कुछ विशेष रूप में कही गई है, उस पद से मिलान कीजिए--

राघव, भावति मोहिं विपिन की बीथिन्ह धावनि ।
अरुन-कंज-बरन चरन सोक हरन, अंकुस कुलिस केतु अंकित अवनि ॥
सुंदर स्यामल अंग, बसन पीत सुरंग, कटि निषंग परिकर मेरवनि ।
कनक कुरंग संग साजे कर सर चाप, राजिव नयन इत-उत चितवनि ॥
सोहत सिर मुकुट जटा पटल, निकर सुमन लता सहित, रचि बनवनि ।
तैसेई श्रमसीकर रुचिर राजत मुख, तैसिए ललित भृकुटिन्ह की भवनि ॥२॥

प्राण-प्रिया ने जो कांक्षा प्रकट की हैं। उसमें तत्पर हैं क्षणिक वियोग भी सहन नहीं होता, इस लिये मृग का पीछा करते हुए फिर-फिर कर तिरछी चितवन से प्राण-प्रिया की ओर देखते जाते हैं, ग्रन्थकार इस अनोखी छटा पर मुग्ध हैं। अतएव इसे आँखों में बसाये हुए हैं।

अलंकार—१—'स्वभावोक्ति' एवं २--'यमक'।

१—यहाँ स्वाभाविक छटा का वर्णन है, इससे 'स्वभावोक्ति' है, इसका लक्षण और उदाहरण पद २५ में लिखा गया।

२--लक्षण--"यमक शब्द को पुनि श्रवण, अर्थ जुदो हो जाय।" (भानु) यहाँ "कनखियन-अँखियन' में उच्चारण की समता है, पर अर्थ की भिन्नता है, इससे 'यमक' है।

तथा—"भये बिदेह बिदेह बिसेषी।" (मा० बा० २१४)।

श्रीराम वाक्य

[३१]

कनक-सलाक कला-ससि दीप-सिखाउ ।
तारा सिय कहँ लछिमन मोहिं बताउ ॥

शब्दार्थ—कनक-सलाक (कनक-शलाका)=सोने की सलाई। कला-ससि (शशि-कला)=चन्द्रमा की कला। दीप-सिखा=दीपक की लौ। तारा=आँखों की पुतली (अत्यन्त प्यारी)।

अव०—माया मृग का बध कर श्रीरामजी आश्रम पर आये, वहाँ श्रीसीता-

जी को न पाकर श्रीलक्ष्मणजी से इस प्रकार पूछते हैं (क्योंकि इन्हीं को सौंप कर गये थे)—

अर्थ—सोने की सलाई के समान सुन्दर; सुडौल और सुवर्ण शरीर वाली, चन्द्रमा की कला के समान अपने लावण्य से आह्लाद बढ़ाने वाली, दीपक की ज्योति के समान कान्तियुक्त छटा वाली और मेरे नेत्रों की पुतली के समान (अत्यन्त प्यारी) श्रीसीताजी कहाँ हैं ? लक्ष्मण ! मुझे बताओ।

विशेष—'कनक सलाक'—सोने की सलाई के समान छरहरे शरीर वाली, गौर वर्ण वाली, साँचे की ढली हुई-सी सर्वाङ्ग सुडौल सुंदर अङ्गों वाली। 'कला ससि'—'चदि—आह्लादने' इस धातु से चन्द्रपद सिद्ध होता है। अतः, चन्द्रमा आह्लादवर्द्धक है, वैसे ही श्रीसीताजी अपनी लावण्य रूपी कला से मुझे आह्लादित करने वाली आह्लादिनी शक्ति है। 'दीप सिखाउ'—दीपक की लौ के समान कान्तियुक्त शरीर वाली। इन गुणों से वे मुझे आँखों की पुतली के ससान अत्यन्त प्यारी हैं, वे सीता कहाँ है ? 'ससि कला'—चन्द्रमा में षोडशकलाएँ होती हैं, उनमें अमृत कला उसमें स्वाभाविक है। शेष पन्द्रह कृष्णपक्ष में तिथि के क्रम से एक-एक क्षीण होती हैं और शुक्ल पक्ष में क्रमश बढ़ती हुई पूर्णिमा को पूर्ण होती हैं। कलाओं से चन्द्रमा में आह्लादकत्व बढ़ता है।

यहाँ श्रीरामजी ने श्रीजानकी के विरह में प्रथम उनके सर्वाङ्ग सुन्दर गौर रूप की भावना की, फिर उस रूप के लावण्य रूपी कला की, तत्पश्चात उनके तन से दूर तक फैलने वाली द्युति की भावना की है। इस प्रकार उत्तरोत्तर उत्कर्ष की भावना की है' इससे—

अलङ्कार—१—'सार' तथा २—'तुल्ययोगिता (तीसरी) है।

लक्षण—"सार होत है अधिक जब, इक ते एक बखान।" (भानु) यहाँ उत्तरोत्तर अधिकता कथन ऊपर स्पष्ट है* उत्तरोत्तर अधिकता भलाई में हो या

---

* यहाँ पर किसी-किसी ने 'कनक सलाक' से 'ससिकला में अधिक प्रकाश मानकर और फिर 'दीपसिखाउ' में न्यून प्रकाश मानकर 'पतत प्रकर्ष, दोष मान लिया है, यह भूल है, भाव न समझने से ही लोग इस दिव्य वाणी में भी दोष देखते हैं। उक्त भाव समझ कर उन्हें सावधान होना चाहिये।

बुराई में हो, वहीं यह 'सार अलंकार' होता है, यथा—"अधम ते अधम अधम अति नारी। तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी॥ (मा० अर० ३४)।

तथा—"एक मैं मंद मोह बस, कुटिल हृदय अज्ञान।
पुनि प्रभु मोहिं बिसारेउ, दीनबंधु भगवान्॥ (मा०कि० २)।

२—लक्षण—"उत्तम गुणगण तुल्यकरि, एकहि ठौर बखान।
लोकपाल सुरपति वरुण, यम कुवेर नृप जान॥ (भानु)

यहाँ एक श्रीजनकीजी में ही 'कनक सलाक' 'ससिकला' एवं 'दीप-सिखाउ के गुण कहे गये हैं, इससे यहाँ 'तुल्ययोगिता (तीसरी)' स्पष्ट है।

तथा—"प्रभु समरथ सर्वज्ञ सिव, सकल कला गुन धाम।
जोग ज्ञान वैराग्य निधि, प्रनत कलपतरु नाम॥ (मा०बा०१०७)

[३२]

सीय बरन सन केतकि अति हिय हारि।
किहेसि भँवर कर हरवा हृदय बिदारि॥

अर्थ—श्रीसीताजी के वर्ण (रंग=गोराई) से (प्रतियोगिता में) केतकी ने हृदय से अत्यन्त हारकर और अपना हृदय विदीर्ण कर (उसपर) भौरों का हार बना कर पहन लिया है।

विशेष—यहाँ श्रीरामजी श्रीसीताजी के विरह में उनकी शोभा का वर्णन कर रहे हैं। अंग की गोराई की उपमा चम्पा एवं केतकी के फूलों से दी जाती है। श्रीजानकीजी के वर्ण से चम्पा आदि हार चुके थे, केतकी को बड़ा गर्व था कि मैं सामना कर जीत लूँगी। पर सामना पर वह ऐसी फीकी लगी कि उसने स्वयं हृदय से अपनी अत्यन्त हार मानी और उसे पूर्व के अपने गर्व पर बड़ी ग्लानि हुई, इससे उसका हृदय विदीर्ण हो गया, फिर उसने सोचा कि मेरी यह हार सर्व साधारण को देखने में न आवे, अन्यथा सब लोग मेरी बड़ी निन्दा करेंगे, इस लिये उसने अपने फटे हुए हृदय को ढँकने के लिए उस पर काले भ्रमरों का हार धारण कर लिया।

केतकी की कलियों का खिलना उसका हृदय फटना है, उस पर पुष्परस के लोभ से भौंरे आ बैठते हैं, यही उसका भौरों का हार पहनना है। हार शोभा प्रकट करने के लिए पहना जाता है, वैसे ही रस के लोभ से फूलों पर भौंरों के

बैठने पर फूलों की शोभा होती है। केतकी ऊपर से अपनी शोभा दिखाती है, पर वास्तव में उसने अपने फटे हृदय को हार से छिपाया है। काले रंग का ही हार पहना है, इससे उसने हारने का शोक भी प्रकट किया है; यथा—"संसय सोक निबिड तम भानुहिं।" (मा० उ० २६); अर्थात् शोक तम रूप है। इसीसे पाश्चात्यों में शोक पर काला चिह्न धारण करते हैं। 'सन' के स्थान पर सभा की एवं आधुनिक और प्रतियों में भी 'सम' पाठ है। पर प्राचीन भागवत दासजी की प्रति में 'सन' ही पाठ है और अधिक उपयुक्त भी है।

उपर्युक्त उपमेय से उपमान की प्रतियोगिता के भाव को कोई कोई अप्रासंगिक मानते हैं। उन्हें रामचरितमानस के इस विरह-वर्णन प्रसंग को देखना चाहिये—"हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी।......"से" किमि सहि जात अनख तोहि पाहीं।........" तक

अलङ्कार—'हेतूत्प्रेक्षा-असिद्धास्पदा'

लक्षण—"मुख सम नहिं याते मनौ चन्दहि छाया छाय" (भानु) अर्थात् मुख के समान चन्द्रमा नहीं है, इससे इसमें छाया छाई हुई है। इसमें मुख समता की चाह छाया का कारण न होने पर भी कारण की कल्पना की गई है, इसलिए हेतूत्प्रेक्षा है और मुखसमता की चाह असिद्ध है, इसलिये वह असिद्धास्पदा है।

यहाँ पर केतकी के खिलने और भ्रमराच्छादित होने में श्रीसीताजी के वर्ण की प्रतियोगिता में हारना कारण नहीं है, फिर भी कारण की कल्पना की गई है और केतकी में प्रतियोगिता की चाह भी असिद्ध है, इससे उक्त अलंकार है।

तथा—"इन्हहिं देखि बिधि मन अनुरागा। पटतर जोग बनावइ लागा॥
कीन्ह बहुत श्रम ऐक न आये। तेहि इरषा बन आनि दुराये॥"
(मा० अ० ११६)।

[३३]

सीतलता ससि की रहि सब जग छाइ।
अगिनि ताप ह्वै हम कहँ सँचरति आइ॥

शब्दार्थ—सँचरति आइ (सं० संचरण=फैलना)=आकर फैलती है, लगती है।

अर्थ—चन्द्रमा की शीतलता सारे संसार में छा रही है, परन्तु [वही

शीतलता (ठंढक) जानकीजी के वियोग से] हमको अग्नि ज्वाला होकर लगती है।

विशेष—श्रीजानकीजी के वियोग के कारण सुखद पदार्थ दुःखद प्रतीत हो रहे हैं शृङ्गार रस के उद्दीपक सभी पदार्थ स्त्री-विरह में दुखदाई होते हैं; यथा—'कहेउ राम बियोग तव सीता। मोकहँ सकल भए बिपरीता॥ नव तरु किसलय मनहुँ कृसानू। काल निसा सम निसि ससि भानू॥ कुवलय बिपिन कुंत बन सरिसा। बारिद तपत तेल जनु बरिसा॥ जे हित रहे करत तेइ पीरा। उरग स्वास सम त्रिविध समीरा॥'' (मा० सुं० १४)।

तथा ''ससि तें सीतल मोको लागै माई री ? तरनि।
याके उये बरति अधिक अँग-अँग दव, वाके उये मिटति रजनि जनित जरनि॥
सब विपरीत भए माधव बिनु, हित जो करत अनहित की करनि।
तुलसिदास स्यामसुंदर बिरह की दुसह दसा सो मोपै परति नहीं बरनि॥''
(कृष्णगीतावली ३०)।

वियोग की एकादश दशाएँ हैं—

''इक वियोग शृङ्गार की, ग्यारह दशा बखान।
अभिलाषा चिन्ता बहुरि, सुमिरण अरु गुणगान॥
त्यों उद्वेग प्रलाप पुनि, उन्मादहु अरु व्याधि।
जड़ता मूर्च्छा मरण कह, कवि ग्रंथन मत साधि॥'' (भानु)

इनमें यहाँ पर 'उद्वेग' दशा है। यथा—

''सुखदायक होइ जात जहँ, दुखदायक अनयास।
सो उद्वेग दसा दुसह, बरनै केसवदास॥'' (केशव)

'हम' पाठ के स्थान पर सभा की प्रति एवं आधुनिक और प्रतियों में 'तम' पाठ है। पर प्राचीन श्रीभागवतदासजी की प्रति में 'हम' है। वही अधिक उपयुक्त भी है।

अलङ्कार—१ 'विभावना पाँचवीं' तथा २—'व्याघात प्रथम'।

लक्षण—''काहू कारण तें जबै, कारज होत विरुद्ध।
करत मोहिं संताप यह, सखी शीतकर शुद्ध॥'' (भानु)

अर्थात् किसी कारण से जहाँ विरुद्ध कार्य हो, जैसे चन्द्रमा से ताप, वहाँ यह अलङ्कार होता है, यह तो बरवै के इस छन्द में स्पष्ट ही है।

उदाहरण ऊपर आ गये हैं।

२ लक्षण—"व्याघात जु कछु और सों, कीजै औरहि कार।
सुख पावत जासों जगत्, तासों मारत मार॥" (भानु)

यहाँ जिस चन्द्र-शीतलता से सब जगत शीत-सुख पाता है, उसी से अग्नि ज्वाला की अनुभूति कही गई है, इससे यहाँ 'प्रथम व्याघात' अलंकार है।
तथा--"देखहु तात बसंत सुहावा। प्रिया हीन मोहिं भय उपजावा॥"
(मा० अर० ३६)।

किष्किंधाकाण्ड

[३४]

स्याम गौर दोउ मूरति लछिमन राम।
इन तें सित कीरति अति अभिराम॥

शब्दार्थ—मूरति (मूर्त्ति)=१ शरीर, २ आकृति, ३ प्रतिमा, विग्रह। सित = उज्ज्वल, श्वेत। अभिराम = मनोहर, सुन्दर, रम्य, प्रिय।

अव०—ऋष्यमूक पर्वत पर जब श्रीसुग्रीवजी ने वीररूप श्रीराम-लक्ष्मण को देखा, तब उन्होंने इन्हें बाली के पक्ष का समझ कर श्रीहनूमान्जी को परीक्षार्थ भेजा। श्रीहनुमान्जी ने समझ कर श्रीराम-लक्ष्मण को अनुकूल पाकर इन्हें पीठ पर चढ़ा लिया और सुग्रीवजी के पास लाकर इनका परिचय देते हुए उनसे कहा है—

अर्थ—ये श्याम शरीरवाले श्रीरामजी और गौर शरीर वाले श्रीलक्ष्मणजी दोनों मूर्त्तियाँ हैं। इनसे अत्यन्त मनोहर और अत्यन्त उज्ज्वल कीर्त्ति (फैली हुई) है।

विशेष—'स्याम गौर...'—यहाँ यदि 'गौर स्याम...' कहा गया होता तो बिना छन्दोभङ्ग के क्रमालंकार आ जाता, परन्तु श्रीरामजी बड़े हैं। अतः इनका नाम प्रथम आना चाहिये, इससे 'स्याम' पद ही दिया गया है; और श्रीरामजी हैं भी। श्रीसुग्रीवजी ने दोनों भाइयों को वीर रूप देखा था, उ

वैसे ही ध्यान की अपेक्षा भी है। इसलिये वीरता-परक इनका नाम कहते हुए श्रीहनुमानजी ने 'लछिमन' नाम क्रम भंग कर पहले कहा है; क्योंकि युद्ध में छोटा भाई आगे रहता है; यथा—"त्रिसिरादि खरदूषन फिरे।" (मा० अर० १९); इसीसे वीरता का परिचय देती हुई तारा ने भी ऐसा ही कहा है; यथा —"सुनु पति जिन्हहिं मिलेउ सुग्रीवाँ। ते द्वौ बंधु अतुल बल सीवाँ॥ कोसलेस सुत लछिमन रामा। कालहु जीति सकहिं संग्रामा॥" (मा० कि० ६)। इन भावों की सुन्दरता के लिये ग्रन्थकार ने क्रम एवं अलंकार की उपेक्षा भी कर दी है।

छन्द के पूर्वार्द्ध में रूप और नाम का बाहरी परिचय दिया गया है। आगे उत्तरार्द्ध में इनके गुण-स्वभाव आदि का विशेष परिचय बड़ी चतुराई से अत्यन्त थोड़े शब्दों में देते हैं—

'इन तें भइ सित कीरति·····'—इन्होंने विश्वामित्र यज्ञ-रक्षण, अहल्योद्धार, धनुर्भङ्ग, परशुराम-गर्व-हरण और पिता-माता की आज्ञा का पालन करते हुए विशाल राज्य-वैभव का त्याग किया है। विराध वध और खर-दूषण आदि पर विजय प्राप्त की है, इन चरितों से आप दोनों भाइयों ने जगत् में अत्यन्त मनोहर और उज्ज्वल कीर्त्ति पैदा की है; यथा—"जग बिस्तारहिं बिसद जस, राम जनम कर हेतु॥" (मा० बा० १२१)।

विश्वामित्र-यज्ञ-रक्षा प्रसंग में श्रीरामजी का वीर्य गुण है। अहल्योद्धार में निर्हेतुकी कृपालुता है; यथा—"अस प्रभु दीनबंधु हरि, कारन रहित दयाल।" (मा० बा० २११); इससे कीर्त्ति बहुत फैली; यथा—"मुनि तिय तरी लगत पग धूरी। कीरति रही भुवन भरि पूरी॥" (मा० बा० ३५७); धनुर्भङ्ग से बल की ख्याति हुई; यथा—"तव भुज बल महिमा उदघाटी। प्रगटी धनु बिघटन परिपाटी॥" (मा० बा० २३८); दस अवतारों में परिगणित परशुरामजी के गर्व-हरण से आपका अलौकिक ऐश्वर्य प्रकट हुआ; तथा श्रीसीताजी का पाणिग्रहण करने से अपार महिमा प्रकट हुई; यथा—"उमा रमा ब्रह्मादि बंदिता। जगदंबा सन्तत मनिन्दिता॥ जासु कृपा कटाच्छ सुर, चाहत चितव न सोइ। राम पदारविंद रति, करति सुभावहि खोइ॥" (मा० उ० २३–२४)।

पिता की आज्ञा से वनयात्रा करके आपने सुर-मुनि के अनेक कार्य किये। पृथिवी के भार उतार इसे सद्धर्म स्थापन से सुशोभित किया, इन चरित्रों आपकी बड़ी निर्मल कीर्ति फैली; यथा—"यस्यामलं नृपसदःसु यशोऽधुना गायन्त्यघघ्नमृषयो दिगिभेन्द्रपट्टम्। तन्नाकपालवसुपालकिरीटजुष्टपादाम्बुजं रघु पतिं शरणं प्रपद्ये॥" (भाग ९।११।२१); अर्थात् जिनकी पापनाशिनी औ दिग्गजों से आवरण वस्त्र की उपमा को प्राप्त दिगन्तव्यापिनी निर्मलकीर्ति कीर्त्तन अब भी ऋषिगण के द्वारा बड़े बड़े राजाओं की सभाओं में होता है देवगण और राजा लोग अपने मुकुटों से जिनके चरणों की सेवा करते हैं, उन रघुपति के हम शरणागत हैं।

श्रीहनुमान्‌जी का वचन है; यथा—"लक्ष्मीस्तिष्ठति ते गेहे वाचि भा सरस्वती। कीर्त्तिः किं कुपिता राम येन लोकान्तरं गता॥" अर्थात् 'की श्रीर्वाक् च नारीणाम्' इस गीता-वाक्य से कीर्ति, लक्ष्मी और सरस्वती ती भगवान् की विभूतियाँ हैं। इनमें लक्ष्मी श्रीरामजी! आपके घर में सेवा रही है, वचन में सरस्वती विराजमान् है। कीर्त्ति क्यों आपसे रुष्ट हो गई, लोकान्तर चली गई। इसमें व्यंग्य से स्तुति की गई है कि आपकी कीर्त्ति बहु फैली हुई है।

अलङ्कार—१ 'द्वितीय विषम' और २ 'द्वितीय सम' *

१—लक्षण—"कारण को कछु और रँग, कारज को कछु और।
लता स्याम असि ते प्रगट, कीर्त्ति सेत चहुँ ओर॥" (भानु)

यहाँ श्याम मूर्त्ति श्रीरामजी से श्वेत कीर्त्ति का होना स्पष्ट है। अतः 'द्वितीय विषम' अलंकार है।

तथा—"स्याम सुरभि पय बिसद अति, गुनद करहिं सब पान।
गिरा ग्राम्य सियराम जस, गावहिं सुनहिं सुजान॥" (मा० बा० १

२—लक्षण—"कारण ही के अंग सब, कारज माहीं चाहि।
नीच सङ्ग अचरज कहा, लछमी जलजा आहि॥" (भानु)

---

* यहाँ दो अलङ्कार ही एक वाक्य निबन्ध में हैं, अतः 'उभयालङ्कार' संसृष्टि का दूसरा भेद है—लक्षण पद २ में लिखा गया है।

यहाँ गौर मूर्त्ति लक्ष्मणजी के द्वारा तदनुसार श्वेत कीर्त्ति का होना कहा गया। अतः, 'द्वितीय सम' अलंकार है।

तथा—"कस न कहहु अस रघुकुल केतू। तुम्ह पालक संतत श्रुति सेतू॥"

(मा० अ० १२६)

[३५]

कुजनपाल, गुनबर्जित, अकुल, अनाथ।
कहहुँ कृपानिधि, राउर कस गुन गाथ॥

शब्दार्थ—कुजन पाल (सं० कु = कुत्सित, बुरा तथा पृथ्वी)=१-बुरे लोगों एवं भक्तों के पालक। २-पृथ्वी भर के लोगों के पालक। गुनवर्जित= १-गुण हीन, जिसमें कोई अच्छे गुण नहीं हों। २-तीनों गुणों परे, गुणातीत (परब्रह्म)। अकुल= १-नीच कुल का, कुल हीन। २-जो कुल-बन्धन से परे (स्वयंभू) हो। अनाथ= १-स्वामी रहित, जिसका कोई स्वामी (धनी-धोरी) न हो। २—परम स्वतंत्र=जिस पर कोई शासक न हो।

अर्थ—(१)—(हे श्रीरामजी !) आप पृथ्वी भर के लोगों के पालक, गुणातीत, स्वयंभू और परम स्वतंत्र हैं, फिर भी कृपा के निधान हैं। अतः, आपके गुणों की कथा, कहिये, कैसी (विलक्षण) है ? (२) हे श्रीरामजी ! आप बुरे भक्त, गुण हीन, कुल हीन और आश्रयहीन का पालन करनेवाले हैं। अतः, हे कृपानिधान ! कहिये, आपके गुणों की कथा कैसी (विलक्षण) है ?

विशेष—अर्थ (१) के अनुसार जो पृथिवी भर के लोगों का पालक है, वह एक किसी पर कृपा करे, यह उसमें विषमता है, पर आपका स्वभाव तो कल्पवृक्ष के समान है, जो आश्रित होकर आपसे पालन की भावना करते हैं, उनका आप पालन करते हैं। गुणातीत हैं, फिर भी आश्रित के भावानुसार गुण धारण भी करते हैं। इसी प्रकार अकुल होते हुए आश्रितार्थ कुल में आते हैं तथा जो स्वामि भाव से आपको वरण करता है, उसके स्वामी भी बन जाते हैं, इन सब रीतियों से आश्रितों पर आप कृपा ही करते हैं। और लोग प्रयोजन पर किसी से भी बर्त्ताव करते हैं, पर आप निर्गुण (असक्त) होते हुए भी सब आश्रितों पर उक्त रीति से विविध भावों की कृपा करते हैं, आपकी ऐसी गुण-गाथा कैसे समझी जाय ?

तथा इसी कल्पवृक्षवत् स्वभाव से जो आपके शरीर रूप जगत् से दुश्म
रखते हैं, हिंसा, चोरी आदि से जगत् को दुःख देते हैं, उनके आप शत्रु
हो जाते हैं, प्रमाण—"देव, देवतरु सरिस सुभाऊ। सनमुख बिमुख न काहु
काऊ॥ जाइ निकट पहिचानि तरु, छाँह समनि सब सोच। माँगत अभिम
पाव जग, राउ रंक भल पोच॥" (मा० अ० २६७)। "जद्यपि सम नहिं
राग न रोषू। गहहिं न पाप पुन्य गुन दोषू॥ करम प्रधान बिस्व करि राखा
जो जस करइ सो तस फल चाखा॥ तदपि करहिं सम बिषम बिहारा। भगत
अभगत हृदय अनुसारा॥ अगुन अलेप अमान एक रस। राम सगुन भ
भगत प्रेम बस।" (मा० अ० २१८)। "समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति
न प्रियः। ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥" (गीता ९।२९)

अर्थात्—भगवान् कहते हैं कि मैं सब प्राणियों में सम हूँ, न मेरा कोई
द्वेषपात्र है और न प्यारा है। परन्तु जो मुझको भक्ति से भजते हैं, वे मुझमें
हैं और मैं भी उनमें हूँ।

"तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥ १९॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥२०॥" (गीता १६)

अर्थात्—उन (मुझसे) द्वेष करनेवाले क्रूर, अशुभ नराधमों को
संसार में निरन्तर आसुरी योनियों में ही डालता हूँ। अर्जुन! आसुरी योनि
को प्राप्त होकर वे मूढ लोग मुझको न पाकर जन्म-जन्म में और भी नीच गति
को ही प्राप्त होते हैं। वेद-मंत्र भी है—

"अभ्रातृव्यो अना त्वमनापिरिन्द्र जनुषा सनादसि।
युधेदापि त्वमिच्छसे॥ १३॥"
(ऋग्वेद, अष्टक ६, अध्याय २, वर्ग १, मंडल ८, सूत्र २१, मंत्र १३)

अर्थात्—हे इन्द्र (श्रीरामजी)! यद्यपि आप सनातन से भाई दयाद
रहित हैं, तथापि जो भक्त आपसे भाई-दयाद बनने के लिये आग्रह पूर्वक इच्छा
करते हैं, तो आप उनके भाइ-दयाद बन जाते हैं।

इस मंत्र में असंग (निर्गुण) ब्रह्म में भी भक्त की इच्छा पर सगुण

स्पष्ट कहा गया है। अतः, ऊपर बरवै में ब्रह्म के निर्गुणत्व भाव में कृपासिंधुता कही गई है। यह उसकी निराली रीति है।

अर्थ—(२) इसमें प्रथम विशेषण 'कुजन पाल' है, इसका 'पाल' शब्द प्रथम पद में होने से शेष विशेषणों में गया है, इससे सुग्रीव की प्रार्थना यह है—बुरे भक्तों, गुण हीन…; ऐसों पर कृपा करनी आपकी लोक-वाह्य (विलक्षण) रीति है।

अलंकार—१ 'श्लेष से पुष्ट व्याज स्तुति' २ 'परिकर'

१ लक्षण—"व्याजस्तुति निन्दा मिसहि, स्तुति निन्दा होहि।
स्वर्ग चढ़ाये पतित लौं, गङ्ग कहा कहुँ तोहि॥" (भानु)

यहाँ 'कुजन पाल' एवं 'गुन वर्जित' आदि विशेषणों का स्पष्टार्थ निन्दापरक जान पड़ता है, पर इनमें स्तुति है. तथा—"राम न सकहिं नाम गुन गाई।" (मा० बा० २५)।

२ लक्षण—"है परिकर आश्रय लिये, जहाँ विशेषण होय।
हिमकर बदनी नायिका, ताप हरति है जोय॥" (भानु)

यहाँ अर्थ (२) में छन्द-पूर्वार्द्ध के श्रीरामजी के विशेषण साभिप्राय हैं, उन्हीं से वे कृपानिधि हैं, यह गूढ़ रीति से प्रकट किया गया है। अतः यहाँ 'परिकर' है। तथा—"बदन मयंक ताप त्रयमोचन।" (मा० बा० २१८)।

सुन्दरकाण्ड

[३६]

बिरह आगि उर ऊपर जब अधिकाइ।
ये अँखियाँ दोउ बैरिनि देहिं बुझाइ॥

अव०—श्रीजानकीजी अशोक-वाटिका में श्रीहनुमानजी के द्वारा श्रीरामजी के प्रति अपनी विरह व्यथा कह रही हैं—

अर्थ—विरह की आग जब हृदय से प्रज्वलित होकर ऊपर बढ़ना चाहती है (शरीर को भस्म करना चाहती है) तब बैरिन दोनों आँखें (आँसू बहा कर) उसे बुझा देती हैं।

विशेष—श्रीहनुमान्‌जी ने जब इस संदेशे को श्रीरामजी के समक्ष कहा है, तब उन्होंने इसके भावों को विशेष प्रकट कर दिया है; यथा—"विरह अगिनि तनु तूल सरीरा। स्वाँस जरइ छन माहिं सरीरा॥ नयन स्रवहिं जल निज हित लागी। जरइ न पाव देह बिरहागी।" (मा० सुं ३०)। तथा—"बिरह अनल स्वासा-समीर निज तनु जरिबे कहँ रही न कछू सक। अति बल जल बरषत दोउ लोचन दिन अरु रैन रहत एकहिं तक॥" (गी० सुं० ६); यह श्रीजानकीजी ने हनुमान्‌जी के द्वारा श्रीरामजी से कहा है।

श्रीजानकीजी ने वन यात्रा के समय कहा था—"राखिय अवध जो अवधि लगि, रहतन जानिय प्रान।" (मा० अ० ६६); अर्थात् मैं आपके विरह में नहीं जी सकती। वे उसी की सत्यता करना चाहती हैं, श्रीराम-विरह रूपी अग्नि में शरीर भस्म करना चाहती हैं, परन्तु उनके इस मनोरथ-पूर्ति में उनकी आँखें बाधा करती हैं, आँसू ढार-ढारकर उस आग को ये बुझा देती हैं इसी से अपनी आँखों को 'वैरिनि' कहा है।

वियोग की आग आँसुओं के गिरने से कुछ ठंढी पड़ जाती है, क्योंकि इससे शोक की गरम श्वासें कम हो जाती हैं और कुछ शान्ति मिलती है, इससे जीवन व्यवस्था रह जाती है, यही आँखों की आँसुओं से शरीर-रक्षा का होना है। आँखों को दर्शन की आशा है, इस स्वार्थ से ये शरीर की रक्षा करती हैं। यहाँ व्यंग्य से दर्शन की अत्यन्त लालसा कही गई कि मैं दर्शनार्थ ही जीवन धारण करती हूँ।

अलंकार—'काव्यलिंग' है।

लक्षण—"काव्यलिंग जब युक्ति सों, अर्थ समर्थन होय।
तोको मैं जीत्यो मदन, मो हिय में शिव सोय॥" (भानु)

यहाँ युक्ति से यह वाक्य सिद्ध की गई है कि मैं आपके दर्शन लालसा से जीवन धारण करती हूँ और आपका वियोग अभी मृतक दशा को पहुँचा देता है। अतः, 'काव्य लिंग' अलंकार है। तथा—"बिस्व भरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई॥" (मा० बा० ९६)। "सो नर क्यों दसकंध बालि बध्यो जेहि एक सर। बीसहु लोचन अंध, धिग तव जनम कुजाति जड़॥" (मा० लं० ३२)।

[३७]

डहकु न है उँजियरिया निसि नहिं घाम ।
जगत जरत अस लाग मोहिं बिनु राम ॥

शब्दार्थ—डहकु न=धोखे में मत पड़ (डहकना-धोखा देना)

अर्थ—(श्रीजानकीजी ने चाँदनी रात को तपता हुआ दिन समझ कर त्रिजटा से कहा, तब उसने कहा--) हे श्रीजानकीजी ! धोखे में मत पड़ो, यह चाँदनी रात का चाँदना (उजाली) है; क्योंकि रात में घाम (धूप) नहीं होता । (यह सुन कर श्रीजानकीजी ने उससे कहा है--) मुझे तो श्रीरामजी के विना (उनके विरह में) सारा जगत् जलता हुआ सरीखा जान पड़ता है ।

विशेष—विरह में संयोग वाले सभी उद्दीपन विभाव दुःखद जान पड़ते हैं—पद ३२ में इसके कुछ प्रमाण लिखे गये हैं । इससे चाँदनी रात श्रीजानकी जी को धूप के समान तप्त जान पड़ती है, परन्तु त्रिजटा ने रात के चिह्न दिखा कर प्रतीति कराई है कि देखिये, ये तारागण आकाश में छाए हुए हैं । रात में तो धूप नहीं होती । अतः यह रात की चाँदनी ही है ।

'जगत जरत अस···' जब प्रकट चिह्नों से रात का निश्चय हो गया, तब श्रीजानकीजी ने निश्चित किया कि श्रीराम वियोग से ही मुझे सारा जगत् जलता-सा प्रतीत होता है; यथा—"मातु पिता भगिनी प्रिय भाई । प्रिय परिवार सुहृद समुदाई ॥ सासु ससुर गुरु सजन सहाई । सुत सुंदर सुसील सुखदाई ॥ जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते । पिय बिनु तियहि तरनिहुँ ते ताते ॥" (मा० अ० ६४) ।

अलङ्कार—१ 'हेत्वापह्नुति' २ 'भ्रान्तापह्नुति' ३ 'अनुमान-प्रमाण' है ।

(१) लक्षण—"वस्तु दुरइये युक्ति सों, हेतु अपहनुति सोय ।
तीव्र चन्द्र नहि निसि रबी, बडवानल ही जोय ॥" (भानु)

यहाँ रात्रि का समय है । अतः दिन का धूप नहीं है, ऐसा कहने में 'हेत्वापह्नुति' है ।

१ तथा—"देखियत प्रगट गगन अंगारा । अवनि न आवत एकउ तारा ॥"
(मा० सुं० ११) ।

२ लक्षण—"भ्रम संका मन और के, कछु कारन तें होय ।
दूरि करै कहि सत्य सो, भ्रान्तापह्नुति सोय ॥" (दीनजी

यहाँ त्रिजटा ने सत्य रात्रि का समय दिखाकर दिन के सूर्य ताप का निरा करण किया है; तथा—"कह प्रभु हँसि जनि हृदय डेराहू । लूक न असनि के नहिं राहू ॥ ए किरीट दसकंधर केरे । आवत बालितनय के प्रेरे ॥" (मा०लं०३०

(३) लक्षण—"अनुमान जु कारण देखि के, कारज लीजै जान ।" (भानु)

यहाँ रात्रि रूपी कारण को देखकर चाँदनी रूपी कार्य निश्चित हुआ; इसे 'अनुमान-प्रमाण' है; तथा—"जागे नृप अनभये बिहाना । देखि भवन अ अचरज माना ॥ मुनि महिमा मन महँ अनुमानी ।" (मा० बा० १७१) ।

[३८]

अब जीवन कै है कपि आस न कोइ ।
कनगुरिया कै मुँदरी कंकन होइ ॥

शब्दार्थ—कनगुरिया (हि० कानी + अँगुरी, सं० कनीयान + अंगुली) = कनिष्ठिका, हाथ की सबसे छोटी अँगुली ।

अर्थ—(श्रीजानकीजी कहती हैं—) हे वानर श्रीहनुमान्‌जी ! अब मेरे जीने की कोई आशा नहीं है; क्योंकि (शरीर क्षीणता के कारण) कनिष्ठिका की मुँदरी (कर-मुद्रिका) कङ्कण हो जाती है; अर्थात् कङ्कण के स्थान (कलाई पर पहनने पर भी ढीली होती है ।

विशेष—यह दशा श्रीराम वियोग में श्रीजानकीजी की है । श्रीजानकीजी के वियोग में श्रीरामजी की भी ऐसी ही दशा कही गई है; यथा—"तुम पूछ कहि मुद्रिके, मौन होति येहि नाम । कङ्कण की पदवी दई, तुम बिनु या राम ॥" (केशव) यहाँ व्यंग्य से शरीर की अत्यन्त कृशता कही गई है ।

अलङ्कार—'अल्प' ।

लक्षण—"अल्प जहाँ आधेय ते, सूक्ष्म कहत आधार ।
अँगुरी की मुँदरी हुती, भुज में करत बिहार ॥" (भानु)

अर्थात् जहाँ आधेय की अपेक्षा आधार सूक्ष्म हो, वहाँ 'अल्प' अलङ्कार होता है । जैसे अँगुली की मुँदरी भुज में विहार कर रही है, यहाँ मुँद

(आधेय) की अपेक्षा भुज (आधार) सूक्ष्म सिद्ध है, तब तो मुँदरी कङ्कन की भाँति ढीली होकर रहती है।

यहाँ बरवै में कनिष्ठिका से भी हाथ की कलाई क्षीण कही गई है; क्योंकि मुँदरी कनिष्ठिका में कसी हुई रहती है और कङ्कण हाथ की कलाई में ढीला रहकर घूमता रहता है। इससे 'मुँदरी' आधेय से कङ्कण का स्थान कलाई आधार सूक्ष्म कहा गया है। अतः 'अल्प' अलङ्कार है; तथा—"रोम-रोम प्रति लागे, कोटि-कोटि ब्रह्मण्ड ॥" (मा० बा० २०१)।

[३६]

राम सुजस कर चहुँ जुग होत प्रचार।
असुरन कहँ लखि लागत जग अँधियार॥

अर्थ—(श्रीजानकीजी श्रीहनुमान्‌जी से कहती हैं—) श्रीरामजी के सुयश का चारो युगों में प्रचार हो रहा है; किन्तु राक्षसों को देखकर जगत् अन्धकारमय जान पड़ता है।

विशेष—सुयश वह है जो नीति और धर्म के साथ बाहुबल से किसीकी रक्षा करने पर प्रशंसा होती है। यथा—"होइ बाहु बल तें सुजस, धर्म नीति सह होइ।" (वैजनाथ) यहाँ श्रीजानकीजी श्रीरामजी के सुयश-प्रचार पर विचार करती हुई कहती हैं कि श्रीरामजी ने सतयुग आदि अतीत युगों में भी अपने यश का विस्तार किया है; यथा—"मीन कमठ सूकर नरहरी। बामन परसुराम बपु धरी॥ जब-जब नाथ सुरन दुख पायो। नाना तनु धरि तुम्हइँ नसायो॥" (मा० लं० १०८)। इस अवतार में भी आपने संसार पर अत्याचार करनेवाले मारीच-सुबाहु, ताडका, खर, दूषण एवं त्रिशिरा आदि राक्षसों का अपने बाहुबल से संहार कर संसार को सुखी किया है, उत्पीड़ितों एवं साधुओं की रक्षा की है, धर्म और नीति का संस्थापन किया है, इसका प्रचार संसार भर में हो रहा है। यथा—"मारि असुर द्विज निर्भय कारी। स्तुति करहिं देव मुनि झारी॥" (मा० बा० २०९); "मुनि तिय तरी लगत पग धूरी। कीरति रही भुवन भरि पूरी॥ कमठ पीठि पबि कूट कठोरा। नृप समाज महँ सिव धनु तोरा॥ बिस्व बिजय जस जानकि पाई। आए भवन ब्याहि सब भाई॥" (मा० बा० ३५६)। खर-दूषण आदि के बध पर भी कहा गया है—"हरषित बरषहिं सुमन सुर, बाजहिं गगन

निसान। स्तुति करि-करि सब चले, सोभित बिबिध बिमान॥ जब रघुन
समर रिपु जीते। सुर नर मुनि सब के भय बीते॥" (मा० अर० २०)।

सुयश प्रकाश रूप है, प्रकाश में चलने वालों को ठोकर लगने का
नहीं रहता, इस प्रकार राम-सुयश के प्रकाश में धर्म (वर्णाश्रम धर्म एवं
ष्पादात्मक धर्म) की पूर्णता है और राजनीति की उत्तमता है, इससे कि
पर किसी प्रकार का आघात नहीं होता। सब सुखपूर्वक रहते हैं।

'असुरन कहँ लखि...'—परन्तु यहाँ लङ्का में राक्षसों का अधर्म
अनीतिमय बर्त्ताव देख कर तो ऐसा जान पड़ता है कि अभी जगत् अंधकार
ही है। ये लोग यहाँ तक निर्भय हैं कि रक्षक श्रीरामजी के ही घर में इन्हें
डाका डाला है. फिर भी श्रीरामजी क्यों चुप साधे बैठे हुए हैं, इस चुप्पी
उनके बल-वीर्य की निन्दा होगी। अतः, उन्हें शीघ्र तत्पर होकर अपने सु
की रक्षा करनी चाहिये। इन असुरों का संहार कर धर्म और नीति का संस्था
करना चाहिये। इस ढंग से श्रीजी ने श्रीरामजी को उत्तेजित किया है।

अलंकार—'विभावना तीसरी' है।

लक्षण—"प्रतिबंधक के होत हू, कारज पूरन मान।
निशि दिन श्रुति संगति तऊ, नैन राग की खान॥" (भा

यहाँ प्रतिबन्धक रूप राम सुयश के होते हुए भी असुरों के उत्पात से ज
अंधकारमय बना है, ऐसा कहा गया है। अतः, यह अलंकार है। तथा—'
वारे हति बिपिन उजारा। देखत तोहिं अच्छ तेहि मारा॥" (मा० लं० ३

कपि-वाक्य

[४०]

सिय-वियोग-दुख केहि बिधि कहउँ बखानि।
फूल बान ते मनसिज बेधत आनि॥

शब्दार्थ—मनसिज = कामदेव। बेधत = छेदता है।

अर्थ—(श्रीहनुमान्‌जी श्रीरामजी से कहते हैं—) श्रीसीताजी के
में आपके वियोग का जैसा दुःख है, उसका वर्णन मैं किस प्रकार से क
(संक्षेप में यही कहना है—) उन्हें सदा कामदेव फूल के बाणों से बेधा करता

विशेष—'सिय बियोग दुख...'—इस पूर्वार्द्ध में वियोग दुःख

अवर्ण्य कहा है—गी० सुं० १८, १९, २० में श्रीहनुमान्‌जी ने उस दशा का कुछ वर्णन किया है।

'फूल बान ते···'—कामदेव की उत्पत्ति मन से होती है, इसी से इसे मनसिज कहते हैं। मन की प्रवृत्ति हृदय के अष्टदल कमल के विविध रंग वाले दलों के अनुसार होती है, इससे मनोवृत्ति ही पुष्प बाण हैं। उसी से हृदय क्षुब्ध होता है। यथा—"मनुष्यानां च हृदये पद्मैकं वर्तते शुभम्। भिन्नवर्णाष्टकदलं प्रति तिष्ठति वै मनः॥" (जिज्ञासा पंचक ४४)। अर्थात् मनुष्यों के हृदय में भिन्न-भिन्न रंग के अष्ट दल का एक कमल है, उन प्रत्येक पर मन बैठता है (तब उन दलों के अनुसार इसकी भिन्न-भिन्न प्रकार की चेष्टाएँ होती हैं,)। इसके आगे श्लोक ४५ से ५२ तक आठो दिशाओं के भिन्न-भिन्न रंग वाले दलों की कामनाओं का उस ग्रंथ (जिज्ञासा पंचक) में वर्णन है।

श्रीराम-विरह में श्रीजानकीजी उनके प्रति विविध अभिलाषाओं से पीड़ित होती हैं; यथा—"अहं हि तस्याद्य मनोभवेन संपीडिता तद्गतसर्वभावा।" (वाल्मी० ५।२२।१२); अर्थात मैं सर्वात्मना श्रीरामजी की हूँ, अतएव मानसिक अभिलाषाओं से मैं पीड़ित हो रही हूँ। कामदेव के इस फूल बाण की करालता श्रीशिवजी जानते हैं; यथा—"देखि रसाल बिटप बर साखा। तेहि पर चढ़ेउ मदन मन माखा॥ सुमन चाप निज सर संधाने। अति रिसि ताकि श्रवन लगि ताने॥ छाँड़ेउ बिषम बिसिष उर लागे। छूटि समाधि संभु तब जागे॥ भयेउ ईस मन छोभु बिसेखी। नयन उघारि सकल दिसि देखी॥" (मा० बा० ८६)। जिस बाण के एक प्रहार पर परम समर्थ शिवजी क्षुब्ध हो गये, वही प्रहार सदा श्रीजानकीजी सहा करती हैं। अब उनके दुःख की दशा आप स्वयं विचारें और शीघ्र उनके उद्धार का उपाय करें।

अलङ्कार—(१) 'ललित' तथा (२) 'विभावना द्वितीय'।

(१) लक्षण—"ललित कह्यो कछु चाहिये, ताही को प्रतिबिंब।
सेतु बाँधि करिहौ कहा, गयो उतरि अब अम्ब॥" (भानु)

अर्थात् जहाँ वर्ण्य विषय का प्रतिबिम्ब कहा जाय, वहाँ 'ललित' होता है। यहाँ का वर्ण्य विषय तो यह था कि श्रीजानकीजी आपसे मिलने के लिये आर्त्त रहती हैं, पर इसका प्रतिबिंब यह कहा गया कि 'फूल बान ते···'। अतएव

यहाँ पर 'ललित' अलङ्कार है; तथा—"सुनिअ सुधा देखिअहि गरल, स करतूत कराल। जहँ-तहँ काक उलूक बक, मानस सकृत मराल।।" (मा० अ २८१)।

(२) लक्षण—"हेतु अपूरण तें जबै, कारज पूरण होइ।
कुसुम बाण कर गहि मदन, सब जग जीत्यो जोइ।।" (भानु

अर्थात् अपूर्ण हेतु होने पर जहाँ कार्य का पूर्ण होना कहा जाय, वह 'विभावना' का दूसरा भेद होता है, जैसे इसमें कुसुम बाण अपूर्ण है। यह 'फूल बान ते···' इस वाक्य में स्पष्ट 'विभावना द्वितीय' है। तथा—"काम कुसुम धनु सायक लीन्हे। सकल भुवन अपने बस कीन्हें।।" (मा० बा० २५६)

[४१]

सरद चाँदनी सँचरत चहुँ दिसि आनि।
बिधुहि जोरि कर बिनवति कुलगुरु जानि।।

शब्दार्थ—सँचरति = फैलती है-पद ३२ में भी यह पद आया है। विधु = चन्द्रमा। कुलगुरु = सूर्य, सूर्य कुल के पुरुषा सूर्य ही हैं।

अर्थ—जब शरद् ऋतु की चाँदनी आकर चारों ओर फैलती है, तब चन्द्रमा को सूर्य जान कर उनसे विनती करती हैं (कि आप मेरे कुलगुरु हैं अतएव मुझ पर वात्सल्य रक्खें, अपनी प्रखर किरणों से मुझे न जलावें)।

विशेष—वियोग श्रृंगार की विरह दशा में श्रृंगार रस के उद्दीपन विभाव दुःखद हो जाते हैं, इसके उदाहरण पद ३२ में लिखे जा चुके हैं। इससे यहाँ चन्द्रमा सूर्यवत् और चाँदनी धूपवत् प्रतीत होती है।

अलङ्कार—'भ्रान्ति'।

लक्षण—"भ्रान्ति और को और ही, निश्चय जब अनुमान।
तुव सँग फिरत चकोर है, बदन सुधानिधि जान।।" (भानु)

अर्थात्—भ्रम से किसी वस्तु को और ही निश्चय करना 'भ्रान्ति अलङ्कार' है, जैसे कहा जाय कि तेरे वदन को चन्द्रमा जान कर चकोर साथ फिरता है।

यहाँ चन्द्रमा को सूर्य जान कर प्रार्थना करने में यह अलंकार है। तथा—"कपि कर हृदय बिचार, दीन्हि मुद्रिका डारि तब। जनु असोक अंगार, दीन्हि हरषि उठि कर गहेउ।।" (मा० सुं० १२)।

लंकाकाण्ड

[४२]

बिबिध बाहिनी बिलसत सहित अनंत।
जलधि सरिस को कहै राम भगवंत॥

शब्दार्थ—बाहिनी (सं० वाहिनी) = (१) सेना, (२) नदी। अनंत= (१) शेष नाग, (२) श्रीलक्ष्मणजी। बिलसत (विलसना=शोभा पाना, विलास करना, आनन्द मनाना)=शोभा पाते हैं, विलास करते हैं, आनन्द मनाते हैं। भगवन्त = भगवान्, षडैश्वर्ययुक्त।

अव०—श्रीरामजी ने वानरी सेना के साथ लङ्का पर चढ़ाई की। समुद्र तट पर पहुँच कर वहाँ दूसरे सागर के समान अपार सेना युक्त विराजमान हैं, ग्रन्थकार श्रीरामजी की उस विभूति का वर्णन करते हैं—

अर्थ—समुद्र नाना प्रकार की नदियों और शेषनाग के साथ शोभायमान है और श्रीरामजी नाना प्रकार की वानर सेना और श्रीलक्ष्मणजी के साथ शोभायमान हैं, परन्तु भगवान् श्रीरामजी को समुद्र के समान कौन कहेगा? (अर्थात् श्रीरामजी उससे बहुत बढ़ कर हैं)।

विशेष—समुद्र तट पर पहुँच कर ठहरी हुई श्रीरामजी की सेना दूसरे सागर के समान देख पड़ती थी; यथा—"विरराज समीपस्थं सागरस्य च तद्बलम्। मधुपाण्डुजलः श्रीमान्द्वितीय इव सागरः॥" (वाल्मी० ६।४।१०८); अर्थात् समुद्र के पास ही वह सेना मधु (शहद) और पाण्डु (कुछ लाली लिये पीला रंग) रंग के जल वाले शोभायुक्त दूसरे समुद्र के समान जान पड़ती थी। महर्षिजी ने माधुर्य दृष्टि से ऐसा कहा है, इस उक्ति को दृष्टिपथ में रखकर श्रीगोस्वामीजी ऐश्वर्य दृष्टि से विशेष विचार करते हैं।

'बिबिध बाहिनी'—इस पद के उपमान पक्ष के अर्थ में नाना प्रकार के जल वाली नदियाँ हैं (जैसे गंगा श्वेत, यमुना श्याम और शोण लाल रंग के जल वाली हैं), इनके जलों से पूर्ण समुद्र 'मधु पाण्डु जलः' कहा गया है। वैसे ही उपमेय पक्ष के अर्थ में नाना प्रकार के रंग वाले वानरों एवं भालुओं की सेनाएँ हैं, इनसे युक्त भगवान् श्रीरामजी भी रंग-विरंग सेना युक्त हैं।

नदियाँ अपनी बाढ़ से लोक का अकल्याण करती हैं; यथा "तुलसी तोरत तीर तरु, बक हित हंस बिडारि। बिगत-नलिन-अलि, मलिन जल, सुर-सरिहू बढ़ियारि ॥" (दोहावली ४६८); परन्तु श्रीरामजी की सेना नदियों के समान उमड़ कर चलती थी, तब यह किसी को हानि नहीं पहुँचाती थी; यथा—"सरांसि च प्रफुल्लानि ताटकानि वराणि च। रामस्य शासनं ज्ञात्वा भीमकोपस्य भीतवत् ॥ वर्जयन्नगराभ्याशांस्तथा जनपदानपि। सागरौघ निभं भीमं तद्वानरबलं महत ॥ निःसस्वर्प महाघोरं भीमघोषमिवार्णवम् ।" (वाल्मी० ६।४।३८-३९-४०); अर्थात् भयानक क्रोध वाले श्रीरामजी की—मार्ग में कोई उपद्रव न करना, किसी की कोई हानि न करना—इस आज्ञा से डरे हुए वे वानर विकसित बड़े-बड़े सर, बनाये हुए छोटे तालाब, नगर तथा गाँव आदि से अलग रह कर वह वानरी सेना भीम गर्जन करने वाली समुद्र धारा के समान गर्जन करती हुई चली।

'सहित'—यह पद 'बिबिध बाहिनी' के साथ भी है। 'बिलसत' क्रिया को पृथक कर यह 'देहली दीपक' की भाँति है।

'सहित अनंत'—उपमान पक्ष में 'अनंत' शेष नाग का नाम है; यथा—"शेषोऽनन्तो वासुकिस्तु" (अमरकोष); शेष नाग पृथिवी का धारण करते हैं और क्रोधाग्नि से प्रलय भी करते हैं; यथा—"कमठ सेष सम धर बसुधा के।" (मा० बा० १९); "सेष मुख अनल बिलोके बार-बार हैं।" (क० सुं० २०)। उपमेय पक्ष में 'अनंत' श्रीलक्ष्मणजी का नाम है; यथा—"जयति लक्ष्मणानन्त भगवंत भूधर···" (वि० ३८); "क्रोधवंत तब भएउ अनंता।" (मा० लं० ५२); श्रीलक्ष्मणजी शेषनाग और पृथिवी का भी भार उतारने वाले हैं यथा-"जो सहस सीस अहीस महिधर लखन सचराचर धनी। सुर काज धरि नर राज तनु चले दलन खल निसिचर अनी ॥" (मा० अ० १२५); शेष नाग क्रोध से संसार का प्रलय करते हैं, श्रीलक्ष्मणजी क्रोध करके संसार के रक्षार्थ असुरों का दलन करते हैं, यह उपमेय पक्ष में विशेषता है।

'जलधि'—यह उपमान है, इसका अर्थ समुद्र है, यह जल का केन्द्र है, इसी का जल मेघों की वर्षा से जगत् का जीवन होता है; यथा—"सोइ जल अनल अनिल संघाता। होइ जलद जग जीवन दाता ॥" (मा० बा० ६)।

इसका ऐश्वर्य जल मात्र है। इसके उपमेय 'राम भगवंत हैं'। 'भगवंत' पद के योग से 'राम' पद का अर्थ ऐश्वर्य परक ही होना चाहिये। अतः, 'राम'; यथा—"जो आनंद सिंधु सुख रासी। सीकर ते त्रयलोक सुपासी॥ सो सुख धाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक विश्रामा॥" (मा० बा० १९६); 'भगवंत' इस पद का अर्थ षडैश्वर्यवान् होता है। महर्षि पराशर ने इसकी व्याख्या की है—

"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥
... ...

उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥
ज्ञानशक्तिबलैश्वर्य वीर्यतेजांस्यशेषतः।
भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः॥"

(वि० पु० ६।५।७४-८०)

अर्थात् सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य—इन छः का नाम 'भग' है।...जो समस्त प्राणियों की उत्पत्ति और नाश, आना और जाना तथा विद्या और अविद्या को जानता है, वही भगवान् कहलाने के योग्य है। त्याग करने योग्य (त्रिविध) गुण (और उनके क्लेश) आदि को छोड़ कर ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज आदि सद्गुण ही 'भगवत' शब्द वाच्य हैं।

इन षडैश्वर्यों में ज्ञान-बल से जगत् का संहार, ऐश्वर्य-वीर्य से उत्पत्ति और शक्ति-तेज से पालन होता है। इन अर्थों से उपमेय 'राम भगवंत' में उपमान 'जलधि' की अपेक्षा बहुत विशेषता है।

इस प्रकार तीनों उपमानों से तीनों उपमेयों में बहुत विशेषताएँ हैं, यह विचारते हुए श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—'जलधि सरिस को कहै राम भगवंत।' राई और पर्वत की तुलना के समान भला कौन कहे ?

अलङ्कार—'श्लेष से पुष्ट प्रतीप' और 'काकु वक्रोक्ति' है।

लक्षण--"उपमे की उपमान जब, समता लायक नाहिं।

अति उत्तम दृग मीन ते, कहे कौन बिधि जाहिं॥" (भानु)

अर्थात् जहाँ उपमेय की समता के योग्य उपमान न कहा जाय, वहाँ चतुर्थ प्रतीप होता है, जैसे दृग (उपमेय) की समता योग्य मृग (उपमान) नहीं कहा गया।

यहाँ उपमान 'जलधि' उपमेय 'राम भगवंत' की समता योग्य नहीं कहा गया, इससे 'चतुर्थ प्रतीप' है। दो विशेषणों के श्लेषार्थ में ही उपमानों और उपमेयों की व्यवस्थाएँ हुई हैं। अतः, श्लेष से पुष्ट भी है। 'जलधि सरिस को कहै' इसमें 'काकु बक्रोक्ति' है–लक्षण पद २० में लिखा जा चुका है।

उत्तरकाण्ड

[४३]

चित्रकूट पय तीर सो, सुरतरु बास।

लखन राम सिय सुमिरहु तुलसीदास॥

शब्दार्थ—पय तीर = पयस्विनी नदी के तट पर।

अर्थ—श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीचित्रकूट में श्रीपयस्विनी नदी के तट पर रहना मानों कल्पवृक्ष के नीचे निवास करना है; (अर्थात् वहाँ पर सभी की सब प्रकार की कामनाएँ पूरी होती हैं,) अतः, वहाँ रहकर श्रीलक्ष्मणजी श्रीरामजी और श्रीजानकीजी का स्मरण करना चाहिये।

विशेष—'चित्रकूट पय तीर' श्रीचित्रकूट में श्रीअत्रि-अनसूया आश्रम से मन्दाकिनी गङ्गा निकली है, लगभग दस मील चित्रकूट रामघाट के पास पयस्विनी नदी का संगम हुआ है। संगम स्थल को 'राघव-प्रयाग' कहा जाता है। पयस्विनी श्रीकामता नाथ पहाड़ के दक्षिण भाग में ब्रह्मकुण्ड से निकली है, एक मील भर पर 'राघव-प्रयाग' में उससे मंदाकिनी का संगम हुआ है, वहाँ से दोनों चल कर दूर जाकर श्रीयमुनाजी में मिली हैं। राघव-प्रयाग से आगे यद्यपि धारा मंदाकिनी की ही प्रधान है, परन्तु नाम पयस्विनी ही कहा गया है। राघव प्रयाग से आगे रामघाट है, वहाँ उस नदी का नाम श्रीगोस्वामी

जी ने पयस्विनी ही लिखा है; यथा—"लखन दीख पय उतर करारा। चहुँ दिसि फिरेउ धनुष जिमि नारा ॥ नदी पनच सर सम दम दाना। सकल कलुष कलि साउज नाना ॥ चित्रकूट जनु अचल अहेरी। चुकइ न घात मार मुठभेरी ॥" (मा० अ० १३२); वहाँ उसी रामघाट पर श्रीगोस्वामीजी ने भी निवास किया था, उसके स्मारक रूप में अभी उनकी कुटी के दर्शन होते हैं।

'सो सुरतरु बास'; यथा—"सब सोच बिमोचन चित्रकूट। कलिहरन करन कल्यान बूट ॥···साधक सुपथिक बड़े भाग पाइ। पावत अनेक अभिमत अघाइ ॥" (वि० २३); तथा—"अब चित चेति चित्रकूटहि चलु।··मंत्र सो जाइ जपहि जो जपत भए अजर अमर हर अचइ हलाहलु ॥ राम नाम जप जाग करत नित, मज्जत पय पावन पीवत जलु। करिहैं राम भावतो मन को सुखसाधन अनयास महा फलु ॥ कामदमनि कामता कलपतरु सो जुग-जुग जागत जगती तलु। तुलसी तोहिं बिसेषि बूझिये एक प्रतीति-प्रीति एकै बलु ॥" (वि० २४)।

'लखन राम सिय सुमिरहु···'—यहाँ पर श्रीरामजी, श्रीजानकीजी और श्रीलक्ष्मणजी नित्य निवास करते हैं और नाम-जापकों के मनोरथ पूर्ण करते हैं; यथा—"चित्रकूट सब दिन बसत, प्रभु सिय लखन समेत। राम नाम जप जागिकहि, तुलसी अभिमत देत ॥" (दोहावली ४); इस लिये वहाँ पर तीनों का स्मरण करना कहा है।

तीनों का स्मरण करने से काल, कर्म और गुण के द्वारा होनेवाले खेद नहीं व्याप्त होते, रक्षा होती रहती है, यथा—"रस एक रहित गुन करम काल। सिय राम लखन पालक कृपाल ॥ तुलसी जो राम पद चहिय प्रेम। सेइय गिरि करि निरुपाधि नेम ॥" (वि० २३); अर्थात् 'सिय राम लखन' क्रमशः 'गुन कर्म काल' के खेदों से रक्षा करते हैं। गुण माया के हैं; वह माया श्रीजानकीजी के अधीन है; यथा—"माया सब माया माहू ॥" (मा० अ० २५१); अतः, श्रीजानकीजी की अनुकूलता से माया विषम नहीं हो सकती। कर्मफल वैराग्य से बाधक नहीं होता। श्रीरामजी श्रीचित्रकूट में वैराग्य की वृत्ति एवं वेष से रहते थे। अतः, उनके ध्यान एवं उनकी कृपा से वहाँ शुद्ध वैराग्य प्राप्त रहता है। श्रीलक्ष्मणजी वहाँ पर रात-दिन श्रीसीतारामजी की सेवा किया करते थे;

यथा—"सेवहिं लखन सीय रघुबीरहिं। जिमि अविवेकी पुरुष सरीरहिं।" (मा० अ० १४१); इस अवस्था के साथ श्रीलक्ष्मणजी का ध्यान रहने से वे कृपा कर अपनी-सी वृत्ति देते हैं, तब काल विषमता नहीं व्याप्त होती; यथा—"कबहूँ काल व्यापिहि तोहीं। सुमिरेसु भजेसु निरंतर मोंहीं॥" (मा०उ०८७); इस प्रकार तीनों का स्मरण करने पर इन तीन प्रकार की बाधाओं से रक्षा होती है।

श्रीचित्रकूट को कल्पवृक्षवत् कामपूरक कहा गया है। अतः, वहाँ पर यदि साधक इन काल, कर्म और गुण की विषमता से रक्षार्थ कामना करके इन तीनों 'लखन राम सिय' का स्मरण करता है तो ये तीनों अपने इस स्थल के स्थायी उक्त गुणों से इसकी रक्षा करते हुए धाम की महिमा की रक्षा अवश्य करते हैं।

श्रीचित्रकूट में श्रीरामजी कल्पवृक्ष के नीचे निवास करते हैं; यथा—"लोने लाल लखन, सलोने राम, लोनी सिय, चारु चित्रकूट बैठे सुरतरु तर हैं।" (गी० अ० ४५) इससे माधुर्य लीला में सब कामनाएँ पूरी करते हैं, इसी से यहाँ के ध्यान को दोहावली १ में भी 'सकल कल्यानमय, सुरतरु तुलसी तोर' ऐसा कहा गया है। ऐश्वर्य दृष्टि में तो आप स्वयं कल्पवृक्ष के भी कल्पवृक्ष हैं।

महर्षिजीने भी लिखा है; यथा—"यावता चित्रकूटस्य नरः शृंगाण्यवेक्षते। कल्याणानि समाधत्ते न मोहे कुरुते मनः॥" (वाल्मी० २। ५४। ३०); अर्थात् जब तक मनुष्य श्रीचित्रकूट-गिरि के कँगूरों को देखा करता है, उसके कल्याण ही होते रहते हैं, मोह में तो उसका मन जाता ही नहीं।

श्रीगोस्वामीजी ने केवल कहा ही नहीं, प्रत्युत वहाँ निवास करके आराधन कर लाभ उठाया है; यथा—"तुलसी तोको कृपालु जो कियो कोसल पाल चित्रकूट को चरित चेति चित धरि सो॥" (वि० २६४); तथा—"अगनित गिरि कानन फिरेउँ बिनु आगि जरेउँ हौं। चित्रकूट गये मैं लखी कलि की कुचालि सब⋯" (वि०२६६); अतः, सबको इस प्रकार लाभ उठाना चाहिये।

अलङ्कार—'निदर्शना (द्वितीय)' है।

लक्षण—"आप अवस्था ते जहाँ, औरन को उपदेस।" (भानु) अर्थात् अपनी अवस्था के समान जहाँ औरों को उपदेश देना कहा जाय, वहाँ निदर्शना का द्वितीय भेद होता है।

यहाँ श्रीगोस्वामीजी ने स्वयं आराधना कर लाभ उठाया है और औरों को भी वैसा करने का उपदेश दिया है। अतः, यह अलंकार है।

[४४]

पय नहाइ फल खाहु परिहरिअ आस।
सीय राम पद सुमिरहु तुलसीदास॥

अर्थ - श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि पयस्विनी नदी में स्नान करो, फलाहार करो और सब प्रकार की सांसारिक आशाओं का त्याग करो, (इस प्रकार की वृत्ति से वहाँ रह कर) श्रीसीता-रामजी के चरणों का स्मरण करो।

विशेष—'पय नहाइ'—पयस्विनी में नहाने से बाह्य शुद्धि के साथ-साथ उसके महात्म्य से हृदय के पापों की भी शुद्धि होती है। तब श्रीसीतारामजी में प्रेम होता है; क्योंकि पापी का मन हरि-भजन में नहीं लगता; यथा—"पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ॥" (मा० सुं० ४३); तथा—"न मां दुष्कृतिनो मूढ़ा प्रपद्यन्ते नराधमाः।" (गीता ७। १५); अर्थात् पापाचारी, अधम और मूढ़ मनुष्य मेरी शरण नहीं होते। पाप ही राम-प्रेम का बाधक है; यथा—"एकहि एक सिखावत जपत न आप। तुलसी राम-प्रेम कर बाधक पाप॥" (पद ६४); पयस्विनी का पवित्र जल पापों का शोधन कर देता है, तब श्रीरामजी में प्रेम होता है और फिर उनकी भक्ति होती है।

'फल खाहु'— फलाहार सात्विक आहार है, उससे ज्ञानवृद्धि होती है, तब आगे की कल्याण-व्यवस्था होती है; यथा—"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः। स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः॥" (छान्दो० ७।२६।२); अर्थात् आहार-शुद्धि से अन्तःकरण की शुद्धि होती है, अन्तःकरण की शुद्धि होने पर निश्चल स्मृति होती है और स्मृति की प्राप्ति होने पर सम्पूर्ण ग्रन्थियों की निवृत्ति हो जाती है।

'परिहरिअ आस'—भक्ति में इष्ट का विश्वास रखना प्रधान है; यथा—"बिनु बिस्वास भगति नहिं," (मा० उ० ९०); दूसरों की आशा रखने में विश्वास-हीनता पाई जाती है; यथा—"मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तो कहहु कहा बिस्वासा॥" (मा० उ० ४५); तथा—"तुलसी अद्भुत

देवता, आसा देवी नाम। सेये सोक समर्पई, बिमुख भये अभिराम ॥" दोहावली २५८); अन्य की आशा ही अनन्यता का भी नाश करती है; यथा—कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।" (गीता ७।२०); अर्थात् उन-उन भोगकामनाओं से हरे गये ज्ञान वाले अन्य देवाराधन करते हैं।

आशा त्याग पर शास्त्रों में बहुत कहा गया है; यथा "आशां महत्तरां मन्ये पर्वतादपि सद्रुमात्। आकाशादपि वा राजन्नप्रमेयैव वा पुनः। एषा चैव कुरुश्रेष्ठ दुर्विचिन्त्या सुदुर्लभा।" (महा० शान्ति० १२५।६–७); "सुखं निराशः स्वपिति नैराश्यं परमं सुखम्। आशामनाशां कृत्वा सुखं स्वपिति पिङ्गला॥" (महा० शान्ति० १७४।६२); "आशामपनयत्याशु ततः कृशतरीमिमाम्॥" (महा० शान्ति० १२८।२४); "आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्। यथा संछिद्य कान्ताशां सुखं सुष्वाप पिङ्गला॥" (भाग० ११।८।४२); "आशाया ये दासा दासास्ते सर्वलोकस्य। आशा दासी येषां तेषां दासायते लोकः॥" (स्कन्द पु० वैष्णव० भू० वें० २०।१८); तथा—"अब तुलसिहि दुख देति दयानिधि दारुन आस पिसाची॥" (वि० १६३)।

इन प्रमाणों से आशा का त्याग कर अनन्य-निष्ठ हो विश्वासपूर्वक भक्ति करने वाला भक्ति एवं प्रपत्तिका पूर्णअधिकारी होता है। अधिकारी होना कह कर तब आगे 'सीय राम पद सुमिरहु···' यह कहा गया है।

'सीय राम पद···'—इस पद में पहले 'सीय' पद है, पीछे 'राम' पद है, क्योंकि पहले शिशु माता को ही जानता है, वही इसे शुद्ध कर शृंगार करके पिता की गोद का अधिकारी बनाती है, तब यह पिता की गोद में बैठने योग्य होता है। वैसे ही श्रीजानकीजी पहले वात्सल्य से इसका पाप-शोधन कर निर्मल बुद्धि देकर इसे अधिकारी बना देती हैं, इससे यह पहले उनकी शरण लेता है; यथा—"जनक सुता जन जननि जानकी। अतिसय प्रिय करुना निधान की॥ ताके जुग पद कमल मनावउँ। जासु कृपा निर्मल मति पावउँ॥ पुनि मन बचन करम रघुनायक। चरन कमल बंदउँ सब लायक॥ राजिव नयन धरे धनु सायक। भगत-बिपति-भंजन सुख दायक॥" (मा० बा० १७)

ऊपर छन्द में 'लखन राम सिय सुमिरहु' कहा गया था, इससे नाम जप की आराधना प्रधान थी। यहाँ 'सीयराम पद सुमिरहु' कहा गया है, इसमें

चरण के साथ रूप का ध्यानरूप में स्मरण कहा गया है; क्योंकि नाम-जप के साथ रूप का ध्यान उचित ही है। नामार्थ में चिन्तित भावों की पूर्त्ति रूप के द्वारा ही होती है।

यहाँ शान्तरस की वृत्ति है। 'तुलसीदास'—इस पद में भक्त तुलसीदास आलंवन विभाव हैं। 'पय नहाइ फल खाहु' इस पद में उद्दीपन विभाव है। 'परि हरिअ आस' इस पद में अनुभाव और इससे प्राप्त अर्थ से 'निर्वेद' नाम का संचारी भाव है। इन सब अंगों से 'निर्वेद' स्थायी भाव की पुष्टि होकर शान्त रस सम्पन्न हुआ है।

[४५]

स्वारथ परमारथ हित एक उपाय।
सीय-राम-पद 'तुलसी' प्रेम बढ़ाय॥

अर्थ—श्रीतुलसीदासजी कहते है कि लौकिक सुख और पारलौकिक सुख (मोक्ष) प्राप्ति का एक यही उपाय है कि श्रीसीतारामजी के चरणों में प्रेम ढ़ाते रहें।

विशेष—श्रीसीतारामजी के चरणों का प्रेम ही स्वार्थ-परमार्थ का उपाय है; यथा—"स्वारथ सीताराम सों, परमारथ सियराम। तुलसी तेरो दूसरे, द्वार कहा कछु काम॥५३॥ स्वारथ परमारथ सकल, सुलभ एक ही ओर। द्वार दूसरे दीनता, उचित न तुलसी तोर॥ ५४॥ तुलसी स्वारथ राम-हित, परमारथ रघुबीर। सेवक जाके लखन से, पवनपूत, रनधीर॥ ५५॥" (दोहावली); तथा—"राम सुभाउ सुन्यो तुलसी, प्रभु सों कह्यो बारक पेट खलाई। स्वारथ को परमाथ को, रघुनाथ सों साहिब खोरि न लाई॥" (क० उ० ५७)।

स्वार्थ व्यवस्था; यथा—"स्वारथहि प्रिय स्वारथ सो काते कौन बेद बखानई। देखु खल अहि खेल परिहरि सो प्रभुहि पहिचानई॥ पितु-मातु गुरु स्वामी अपनपौ तिय तनय सेवक सखा। प्रिय लगत जाके प्रेम सों बिनु हेतु हित नहिं तै लखा॥ दूरि न सो हितू हेरु हिये ही है।" (वि० १३५) अर्थात् श्रीरामजी ही पिता, माता और गुरु आदि समस्त सम्बन्धियों के द्वारा प्रेरणा कर समस्त स्वार्थ सिद्ध करते हैं, अचर जगत् में भी वे ही रस आदि रूपों से जीवों को सुख देते हैं।

परमार्थ व्यवस्था: यथा—"सखा परम परमारथ एहू। मन क्रम बचन राम-पद नेहू॥ राम ब्रह्म परमारथ रूपा।" (मा० अ० ९२); अर्थात् राम-भक्ति से श्रीरामजी की प्राप्ति होती है, इससे श्रीरामजी और उनकी भक्ति दोनों ही परमार्थ रूप एवं परम परमार्थ कहे गये हैं।

रामनाम-महिमा

[४६]

काल कराल बिलोकहु होइ सचेत।
राम नाम जपु 'तुलसी' प्रीति समेत॥

अर्थ—श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि भयङ्कर काल को देखो और सावधान होकर प्रीतिपूर्वक श्रीरामनाम का जप करो।

विशेष—'काल कराल बिलोकहु'; यथा—"सो कलिकाल कठिन उरगारी। पाप-परायन सब नर नारी॥" से "सुनु ब्यालारि काल कलि, मल अवगुन आगार।" (मा० उ० ९६-१०२) तक। जैसे गर्मी का काल और जाड़ा का काल सभी पर अपना प्रभाव डालता है, वैसे ही कराल कलिकाल भी अपना प्रभाव डालकर सभी प्राणियों को अवगुणमय बना देता है। फिर अधिक लोगों की प्रवृत्ति का प्रभाव अपने चित्त पर भी पड़ता है। इस समय कराल कलि के अनुसार संसार हो गया है, यह देख कर इससे सावधान हो जाना चाहिये, समय के अनुसार साधन करना चाहिये; यथा—"बुध जुग-धरम जानि मन माहीं। तजि अधर्म रति धर्म कराहीं॥ काल धरम नहिं व्यापहिं ताही। रघुपति चरन प्रीति अति जाही॥" (मा० उ० १०३); श्रीरामजी के चरणों में अत्यन्त प्रीति भी श्रीराम-नाम-निष्ठा से होती है; यथा—"पावन प्रेम राम चरन जनम लाभ परम। श्रीराम नाम लेत होत सुलभ सकल धरम॥" (वि० १३१); अर्थात् राम नामाराधन से धर्म फल प्राप्त होकर पापनाश होता है तब श्रीराम चरणों में पावन प्रेम होता है, यही बात उत्तरार्द्ध में ग्रन्थकार उपाय रूप में कहते हैं—

'राम नाम जपु तुलसी प्रीति समेत'; यथा—"सेवक सुमिरत नाम सप्रीती। बिनु श्रम प्रबल मोह दल जीती॥ फिरत सनेह मगन सुख अपने। नाम प्रसाद सोच नहिं सपने।" (मा० बा० २४); तथा—'नाम कामतरु

काल कराला । सुमिरत समन सकल जगजाला ।।" से "राम नाम नर केसरी, कनककसिपु कलिकाल । जापक जन प्रह्लाद जिमि, पालिहि दलि सुरसाल ।।" (मा० बा० २७) तक ।

काल की करालता देखकर सचेत होना यों भी समझना चाहिये । जगत् की व्यवस्था ही सुदिन-दुर्दिन रूप में काल का परिणाम है । कर्म का स्वरूप व्यष्टि मेघवत् है और काल उसकी घटा के समान है । अतः जगत् की भयङ्करता ही काल की करालता है । यह इस प्रकार देखी जाती है कि बालक जब गर्भ से जन्म लेता है, पृथिवी पर पाँव रखता है, वैसे ही इसके प्रति तीन अपशकुन होते हैं; यथा—"जनमत पहिलेहि छींक भइ, पाछे दीन्हेसि रोइ । ताते जग में जीव की, कुशल कहाँ ते होइ ।।" अर्थात् बालक जन्मते ही छींकता है, फिर रोता है, उस रुदन में 'कहाँ' 'कहाँ' यह ध्वनि निकलती है । अतः, छींकना, रोना, और 'कहाँ' 'कहाँ' ऐसा कहना, ये तीन अपशकुन इसके संसार में पाँव रखते ही होते हैं । कहीं की यात्रा में यदि इन में एक भी अपशकुन हो पड़ते तो लोग मृत्यु का अमङ्गल मानते हैं, यात्रा स्थगित कर लौट पड़ते हैं । यहाँ इसकीइस यात्रा में तो तीनों अपशकुन एक साथ हुए हैं, इसने छींका है, रोया है और 'कहाँ कहाँ' ऐसा कहा है । 'तीन तिकट महा बिकट' यह प्रसिद्ध है । इन अपशकुनों से सिद्ध है कि इस संसार यात्रासे यह मृत्युमुख में पड़ेगा । अतः, इसे लौट पड़ना चाहिये, ईश्वर-भक्ति करनी चाहिये । इस भक्ति से यह संसार से लौटकर अपने अंशी ईश्वर के पास प्राप्त होगा । इसका साधन भी इस कलिकाल में रामनाम ही है, इस् बात के प्रमाण ऊपर लिखे गये । अतः, प्रीतिपूर्वक श्रीरामनामाराधन करना चाहिये; तथा—"कलिकल्मषमत्युग्रं नरकार्त्तिप्रदं नृणाम् । प्रयाति निलयं सद्यः सकृद्यत्र च संस्मृते ।।" (वि०पु०६।८।२१) । अर्थात् कलियुग का अत्यन्त भयंकर पाप लोगों को नरक की विपत्ति देनेवाला है, किन्तु वह एक बार के हरि-स्मरण से नष्ट हो जाता है ।

अतः, प्रीतिपूर्वक रामनाम जपना चाहिये, यही उपाय ग्रंथकार ने कहा है ।

[४७]

संकट सोच बिमोचन मंगल गेह ।
५ 'तुलसी' रामनाम पर करिय सनेह ।।

अर्थ – श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि विपत्ति और शोक एवं चिन्ता को छुड़ानेवाले तथा कल्याण के स्थान श्रीरामनाम पर स्नेह करना चाहिये।

विशेष--श्रीरामनाम के संकट-सोच-बिमोचन और मंगलगेह होने के प्रमाण; यथा--"हरन अमंगल अघ अखिल, करन सकल कल्यान। राम नाम नित कहत हर, गावत वेद-पुरान ।। तुलसी प्रीति-प्रतीति सों, राम नाम जप जाग। किये होइ बिधि दाहिनो, देइ अभागेहि भाग ।।" (दोहावली ३५-३६); "राम-राम राम-राम राम-राम जपत। मंगल मुद उदित होत अघ-अमंगल घटत ।।" (वि० १३०); "रुचिर रसना तू राम राम राम क्यों न रटत। सुमिरत सुख सुकृत बढ़त, अघ अमंगल घटत ।।" (वि० १२९); "दोष-दुरित दुख-दारिद दाहक नाम। सकल-सुमंगल-दायक तुलसी राम ।।" (पद ५८)। "जिन्ह कर नाम लेत जग माहीं। सकल अमंगल मूल नसाहीं ।। करतल होहिं पदारथ चारी। तेइ सियराम कहेउ कामारी ।।" (मा० बा० ३१४); व्याघ्र, सर्प, शत्रु आदि के भय एवं राजभय तथा दारिद्रय आदि के दुःख संकट हैं और प्रिय-वियोग एवं हित-हानि आदि के दुःख शोक कहाते हैं। श्रीरामनाम का स्नेह इन सब का नाश करता है और सभी प्रकार के कल्याण देता है।

[४८]

कलि नहिं ज्ञान-बिराग न जोग-समाधि ।।
राम नाम जपु 'तुलसी' नित निरुपाधि।

शब्दार्थ--निरुपाधि = बाधा रहित। नित = निरन्तर।

अर्थ--श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि कलिकाल में ज्ञान-वैराग्य एवं योग समाधि की सिद्धि नहीं होती। अतएव (इनमें व्यर्थ श्रम करना छोड़ कर) नित्य बाधा-रहित श्रीरामनाम का निरंतर जप करना चाहिये।

विशेष--'कलि नहिं ज्ञान-बिराग...'–'ज्ञान'; यथा--"ज्ञान मान जहँ एकौ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं।" (मा० बा० १४); 'बिराग'; यथा--"कहिय तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी ।।" (मा० अर० १४); 'जोग-समाधि': यथा--"यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ।।" (योग दर्शन २।२९); अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि--ये आठ

अंग हैं, इन आठो की योग-साधन संज्ञा हैं, समाधि योग की चरम अवस्था है।

'नित' यह पद देहली दीपक' है। 'जपु' और 'निरुपाधी' दोनों के साथ है।

'नित निरुपाधि' इस वाक्य से सिद्ध है कि राम नाम के अतिरिक्त ज्ञान विराग आदि बाधा युक्त हैं; यथा--"सुख सपनेहु न जोग-सिधि साधन, रोग-वियोग धरो-सो ॥" (विनय १७३); "धर्म सबै कलिकाल ग्रसे, जप जोग बिराग लै जीव पराने।" (क० उ० १०५)। तथा--"राम नाम के जपे जाइ जिय की जरनि। कलिकाल अपर उपाय ते अपाय भये, जैसे तम नासिबे को चित्र के तरनि ॥ करम कलाप परिताप पाप साने सब, ज्यों सुफूल फूले तरु फोकट फरनि। दंभ लोभ लालच उपासना विनासि नीके, सुगति साधन भई उदर भरनि ॥ जोग न समाधि निरुपाधि न विराग ज्ञान, वचन बिसेष बेष कहुँ न करनि।" (वि० १८४), "नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू ॥" (मा० बा० २६)।

'राम नाम ·· नित निरुपाधि'; यथा--"कालनेमि कलि कपट निधानू। नाम सुमति समरथ हनुमानू ॥ राम नाम नर केसरी कनक कसिपु कलिकाल। जापक जन प्रह्लाद जिमि, पालिहि दलि सुर साल ॥ भाय कुभाय अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ ॥" (मा० बा० २७)। तथा-"दंभ हू कलि नाम कुंभज सोच सागर सोसु ॥" (वि० १५६); अर्थात् श्रीरामनाम पर कलि कृत कपट एवं कलि सामर्थ्य कुछ नहीं लगते, यह भाव, कुभाव, अनख और आलस तथा दंभ से भी जप करने पर सफल ही होता है, ये सारी बाधाएँ व्यर्थ हो जाती हैं। अतः, रामनाम नित्य बाधा-रहित ही है, जब कलियुग में ऐसा सफल है तब और युगों में तो है ही।

[४६]

राम नाम दुइ आखर हिय हितु जानु।
राम-लखन सम 'तुलसी' सिखवन आनु ॥

अर्थ—श्रीराम नाम के दोनों अक्षरों ('रा' और 'म') को श्रीराम-लक्ष्मण के समान हृदय से हितैषी जानना चाहिये, श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि यह शिक्षा हृदय में लानी चाहिये।

विशेष—श्रीराम नाम के दोनों अक्षर हितैषी हैं; यथा—"राम नाम कलि

अभिमत दाता । हित परलोक लोक पितु माता ।।" (मा० बा० २६); दोने
श्रीराम लक्ष्मण के समान हितकर हैं, यथा—"कहत सुनत सुमिरत सुठि नीके
राम लखन सम प्रिय तुलसी के ।।" (मा० बा० १९)

'रा' अक्षर श्रीरामजी के समान हितकर है; यथा—"रश्च रामेऽनि
वह्नौ ।" (एकाक्षर कोष); "राम ब्रह्म परमारथ रूपा ।" (मा० अ० ९२)
इस अर्थ से 'राम' के अर्थ में ब्रह्म श्रीरामजी का अनुसंधान होता है । जाप
के प्रति नाम द्वारा आराधित होने पर श्रीरामजी अपने समस्त गुणों से जाप
का हित करते हैं; यथा—"राम एक तापस तिय तारी । नाम कोटि खल कुम
सुधारी ।।" (मा० बा० २३); अर्थात् श्रीरामजी ने निर्हेतु की कृपालुता ए
उदारता से अहल्या का उद्धार किया है, वैसे ही उनके उसी गुण से उन
नाम करोड़ों खलों कुमति का सुधार करता है इसी प्रकार मा० बा० २३-२
में कई गुणों के उदाहरण हैं, मेरे 'सिद्धान्त-तिलक' में इनकी व्याख्या है ।

'म' अक्षर जीव स्वरूप का बोधक है; यथा—"मकारार्थो जीवः सकलवि
कैंकर्यनिपुणः ।" (श्रीराम मंत्रार्थ); श्रीलक्ष्मणजी भी शुद्ध जीव के आद
हैं; यथा—"सुंदर स्याम गौर दोउ भ्राता । आनंद हू के आनंददाता ।। इ
कै प्रीति परस्पर पावनि । कहि न जाइ मन भाव सुहावनि ।। सुनहु नाथ क
मुदित बिदेहू । ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू ।।" (मा० बा० २१६) ।

उपर्युक्त प्रमाणों से 'म' अक्षर शुद्ध जीव का बोधक होकर श्रीलक्ष्मण
का भी बोधक है । मकार से आराधित होकर श्रीलक्ष्मणजी जापक को अपनी
कैङ्कर्य निष्ठा देकर इसका हित करते हैं ।

श्रीगोस्वामीजी यहाँ यही शिक्षा देते हैं कि इन दोनों अक्षरों को श्रीरा
लक्ष्मण रूप हितैषी जानकर इनकी आराधना करो ।

[५०]

माय बाप गुरु स्वामि राम कर नाम ।
'तुलसी' जेहि न सोहाइ ताहि बिधि बाम ।।

अर्थ—श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीरामजी का नाम माता, पिता, गु
और स्वामी रूप है, जिसे यह अच्छा नहीं लगता, उसके ब्रह्मा टेढ़े हैं (—ऐ
समझना चाहिये) ।

विशेष—'माय बाप···'; यथा—"राम नाम मातु-पितु, स्वामि समरथ हितु, आस राम नाम को भरोसो राम नाम को।" (क० उ० १७८) "राम नाम कलि अभिमत दाता। हित परलोक लोक पितु माता॥" (मा० बा० २६); "सुमिरु सनेह सों तू नाम राम राय को।···माय-बाप भूखे को···" (वि० ६९)। "राम रावरो नाम मेरो मातु-पितु है। सुजन सनेही, गुरु साहिब, सखा-सुहृद, राम नाम प्रेम अविचल वितु है॥" (वि० २५४); "नाम सों न मातु-पितु, मीत-हीत, बंधु गुरु साहिब, सुधी सुसील सुधाकरु है।" (वि० २५५)।

'माय'—श्रीराम नाम का मातृत्व इस प्रकार है। माता बालक को गर्भ में रख कर जन्म देती है और शिशु भाव में पोषण कर इसे बढ़ाती है। वह कार्य रामनाम अपने "हेतु कृसानु भानु हिमकर को।" (मा० बा० १८); इस रूप से करता है। संसार में जन्म लेने वाला जीव पहले चन्द्रमंडल में आता है। फिर चन्द्र किरणों से मेघों में आता है (मेघ सूर्य कर्षित जल से बनते हैं)। फिर अन्न में आकर वीर्य रूप में परिणत हो माता के गर्भ में जठराग्नि द्वारा पिंड रूप होता है, फिर उसी अग्नि के द्वारा इन्द्रियों के आकार एवं रूप की प्राप्ति करता है; यथा—"जिमि बिनु तेज न रूप गोसाईं।" (मा० उ० ८९); फिर सूर्य से उत्पन्न होकर प्रसव पवन इसे उत्पन्न करता है; यथा—"सविता सर्वभूतानां नाना भावान् प्रसूयते।" (योगि याज्ञवल्क्य); सूर्य के ही दिनों से बढ़ता है, अन्न से बढ़ता है, वह भी सूर्य से उत्पन्न होता है। जिन ओषधियों से माता पोषण करती है, उनमें रस चन्दमा से ही आता है। इन रीतियों से मातृत्व कार्य रामनाम के कार्य रूप अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा से होते हैं।

श्रीशिवजी इन्हीं तीनों (अग्नि, सूर्य और चन्द्र रूपी) नेत्रों से देखते हुए श्रीरामनाम का आराधनकरते हैं, इससे अपने स्वरूप को पाकर अविनाशी हैं और काशी में जन्तु पर्यन्त को उनके वास्तविक रूप की प्राप्ति करा उन्हें मोक्ष देते हैं। इस प्रकार वे सबके दिव्य रूप का मातृत्व करते हैं; यथा—"महामंत्र जोइ जपत महेसू। कासी मुकुति हेतु उपदेसू॥" (मा० बा० १८)।

'बाप'—श्रीरामनाम का पितृत्व इस प्रकार है। पिता सन्तान को पैदा

करता है, पालन करता है और इसे अपने कुलोचित धन्धे में प्रवृत्त करता है। यह कार्य श्रीरामनाम के "बिधि-हरि-हर-मय" (मा० बा० १८); इस रूप से होता है। ब्रह्मा सब जीवों की उत्पत्ति करते हैं, विष्णु पालन करते हैं और शिवजी सबके अहंकार के देवता हैं, उसके द्वारा सबको उसके कुलोचित धन्धों में प्रवृत्त करते हैं ? उपर्युक्त त्रिदेवों के कार्य जीवों के कर्मानुसार होते हैं। कर्मों की सिद्धि गणेशजी के द्वारा होती है, इसीसे वे शुभ कर्म में पहले पूजे जाते हैं। वह पद श्रीगणेशजी को रामनाम-निष्ठा से ही प्राप्त हुआ है; यथा— "महिमा जासु जान गन राऊ। प्रथम पूजियत नाम प्रभाऊ॥" (मा० बा० १८)। श्रीगणेशजी जगत् के शुभ कर्म सम्पन्न कर सबके उक्त पितृत्व की व्यवस्था करते हैं।

'गुरु'—जगत् का गुरुत्व वेद से है, श्रीरामनाम वेद का भी प्राण है; यथा—"वेद प्रान सो।" (मा० बा० १८); इस प्रकार यह 'गुरु' है।

श्रीवाल्मीकिजी ने श्रीरामनाम के उल्टे स्वरूप से ब्रह्माजी की-सी योग्यता प्राप्त की। जैसे ब्रह्माजी के मुखों से वेद कहा गया, इसीसे वे आदि कवि हुए; यथा—"तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।" (भाग० १।१।१); अर्थात् परमात्मा ने आदि कवि ब्रह्मा के हृदय में वेद का प्रकाश कर उनके द्वारा वेद विस्तार किया है। उसी प्रकार वाल्मीकिजी ने रामनाम से वेद के अवतार रूप रामायण का निर्माण एवं विस्तार किया है। इससे वे जगत् का गुरुत्व करते हैं।

स्कन्दपुराण, प्रभास खंड के उपक्रम में लिखा है कि वाल्मीकिजी ने परम उत्तम श्रीरामोपाख्यान की रचना की है, ब्रह्माजी ने जो शतकोटि श्लोकों द्वारा विस्तृत श्रीरामचरित का वर्णन किया है, यह उसी का सार है। ब्रह्माजी ने नारदजी से कहा था। नारदजी ने आकर श्रीवाल्मीकिजी से उसका मूल भाग कहा है। वाल्मीकिजी ने उसका विस्तार किया है। सारी रामायण वेद का उपबृंहण है; यथा—"वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना।" (वाल्मी० माहात्म्य); वाल्मीकिजी ने नाम से ही वह योग्यता पाई है; यथा—"उलटा नाम जपत जग जाना। वाल्मीकि भये ब्रह्म समाना॥" (मा० अ० १९३)।

'स्वामि'—स्वामी वह है जो लोक-परलोक के सुख की व्यवस्था करे। यह

स्वामित्व धर्म से होता है। धर्म का फल वैराग्य है; यथा—"निज-निज कर्म-निरत श्रुति रीती॥ यहि कर फल मन बिषय बिरागा।" (मा० अर० १५); फिर वैराग्य से ज्ञान होता है; यथा—"ज्ञान कि होइ बिराग बिनु।" (मा० उ० ८९); तब ज्ञान द्वारा स्वस्वरूप और परस्वरूप का बोध होने पर यह स्पष्ट होता है कि जीव ईश्वर का अंश है। अतः, यह अपने अंशी के लिये है। अतएव इसे अंशी की सेवा (भक्ति) करनी चाहिये। यह जानकर यह भक्ति-निष्ठ होता है।

वैराग्य से यह लोक में सुखी रहता है और ज्ञान-भक्ति से इसकी परलोक सुख की व्यवस्था सिद्ध होती है। यह स्वामित्व श्रीरामनाम में है, यथा—"रकरहेतुर्वैराग्यं परमं यच्च कथ्यते। अकारो ज्ञानहेतुश्च मकारो भक्तिहेतुकम्॥" (महारामायण)। तथा—"अगुन अनूपम गुननिधान सो।" (मा० बा० १८); इसके 'अगुन' इस पद में वैराग्य का भाव है; यथा—"कहिय तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीन गुन त्यागी॥" (मा० अर० १४); और 'अनूपम' इस पद में ज्ञान का भाव है अनूपम का अर्थ उपमा रहित होता है। जैसे कमल जल में रहता हुआ भी उससे असंग रहता है, इससे वह अन्य जल-जन्तुओं से निराला है। वैसे ज्ञानी भी अन्य विषयवारिनिमग्न प्राणियों से निराला (अनूपम) रहता है; यथा—"मुनि गन गुरु धुर धीर जनक से। ज्ञान अनल मन कसे कनक से॥ जे बिरंचि निरलेप उपाये। पदुम पत्र जिमि जग जल जाये॥" (मा० अ० ३१६); तथा—'गुन निधान' इस पद में भक्ति का भाव है; यथा—"जद्यपि गृह सेवक सेवकिनी। बिपुल सकल सेवा बिधि गुनी॥" (मा० उ० २३); तथा—"मकारार्थो जीवः सकलविधि कैंकर्य निपुणः।" (श्रीरामन्त्रार्थ)।

ऊपर धर्म से स्वामित्व कहा गया है। इसकी सिद्धि श्रीरामनाम से होती है; यथा—"सहस नाम सम सुनि सिव बानी। जपति सदा पिय संग भवानी॥ हरषे हेतु हेरि हर ही को। किय भूषन तिय भूषन ती को॥" (मा० बा० १८); अर्थात् श्रीरामनाम में श्रद्धा देखकर शिवजी ने पार्वतीजी को अपने आधे अंग में मिलाकर उसमें अपनी शोभा मानी है, उन्हें अपना भूषण बनाया है। पतिव्रता स्त्री के लिये लोक-परलोक का साधक एक पातिव्रत्य ही है; यथा—"एकै धर्म

एक व्रत नेमा । काय बचन मन पति-पद-प्रेमा ॥" "बिनु श्रम नारि परम गति लहई । पतिव्रत धर्म छाँड़ि छल गहई ॥" (मा० अर० ४), ऐसे दुर्लभ धर्म की सिद्धि श्रीरामनाम की श्रद्धा से श्रीपार्वतीजी को हो गई । इसी लोक में पति के स्वरूप को उन्होंने प्राप्त कर लिया । यह उनकी परलोक सिद्धि है और शिवजी का प्यार ही उनका लोक सुख है, वह भी यहाँ सिद्ध है ।

इस प्रकार पार्वतीजी ने श्रीरामनाम से लोक-परलोक-सुख की सिद्धि पाई यह रामनाम का स्वामित्व है । श्रीपार्वतीजी भी इसी नाम-निष्ठा के प्रभाव से जगत् की स्त्रियों को पातिव्रत्य (धर्म) देने का सामर्थ्य रखती हैं; यथा— "एहि कर नाम सुमिरि संसारा । तिय चढ़िहहिं पतिव्रत असि धारा ॥" (मा० बा० ६६)—यह श्रीनारदजी ने भविष्य की बात कही है, नाम-निष्ठा से पीछे इस प्रभाव की सिद्धि हुई है ।

इस रीति से श्रीरामनाम में मातृत्व, पितृत्व, गुरुत्व और स्वामित्व हैं, इन्हीं चारो सम्बन्धों से क्रमशः मोक्ष, काम, अर्थ और धर्म की भी प्राप्ति कही गई है । मातृत्व प्रसंग में शिवजी ने रामनाम के मातृत्व से अपने स्वरूप में अविनाशित्व प्राप्त कर मुक्त स्वरूपता पाई है और फिर काशी में सभी को मोक्ष फल देने का सामर्थ्य पाया है । पितृत्व-प्रसंग में गणेशजी की अपनी कामना सिद्धि हुई है ! वे औरों की कामना-सिद्धि करते हैं । गुरुत्व-प्रसंग में वाल्मीकिजी के पापों की शुद्धि श्रीरामनाम से हुई है; यथा—"जान आदि कवि नाम प्रतापू । भयेउ सुद्ध करि उलटा जापू ॥" (मा० बा० १८), इनकी करोड़ों ब्रह्म हत्याओं के पापों की शुद्धि हो गई । जो करोड़ों अश्वमेध यज्ञों से भी न होती ।

इस प्रसंग में नाम का अर्थदातृत्व सिद्ध है; क्योंकि शुद्ध द्रव्य से यज्ञ एवं पुण्य करने से पापों की शुद्धि होती है । उसका फल नाम से हो गया वाल्मीकि कृत रामायण के एक-एक अक्षरों से महापातक नष्ट होते हैं; यथा— "चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम् । एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम् ॥" (वाल्मी० माहात्म्य) । अतः, वाल्मीकिजी रामायण द्वारा जगत् भर के पापों का शोधन करते हैं, अर्थ फल का उत्तम फल प्रदान करते हैं ।

स्वामित्व-प्रसंग में श्रीपार्वतीजी को धर्मफल की प्राप्ति हुई और वे भी उसी प्रकार धर्मफल प्रदान करने वाली हो गई हैं, यह लिखा गया ।

इस प्रकार श्रीरामनाम से जापक स्वयं चारो फल पाते हैं और फिर वे भी सारे जगत् को वैसे ही प्रदान करने वाले हो जाते हैं, यह आश्चर्य प्रभाव है। रामनाम के अतिरिक्त अन्य किसी भी मंत्र एवं साधन में ऐसा प्रभाव कहीं नहीं देखा जाता कि जिसके जापक एवं साधक भी औरों को चारो फल एवं विशेष कर मोक्षफल भी दे सकते हों।

'तुलसी जेहि न सोहाइ ...'; यथा—"रसना साँपिनि, बदन बिल, जे न जपहिं हरि नाम। तुलसी प्रेम न राम सों, ताहि बिधाता बाम॥" (दोहावली ४०)।

अलंकार—१-'तुल्ययोगिता (तीसरी)' २-तथा 'मालोपमा' है।

१ लक्षण—"उत्तम गुण गण तुल्य करि, एकहि ठौर बखान।
लोकपाल सुरपति बरुण, यम कुबेर नृप जान॥" (भानु)

अर्थात् जहाँ उत्तम गुण वालों के साथ उपमेय का वर्णन हो, वही तुल्ययोगिता का तीसरा भेद होता है, जैसे एक नृप को लोकपाल, इन्द्र आदि कहा गया है। यहाँ पर एक ही उपमेय रामनाम को माता-पिता आदि कहा गया है, उन सब के उत्तम गुण नाम में दिखाये गये हैं, इससे यह अलंकार है।

तथा—"अरुनोदय सकुचे कुमुद, उडुगन जोति मलीन।
तिमि तुम्हार आगमन सुनि, भए नृपति बल हीन॥"
(मा० बा० २३८)

२ लक्षण—"मालोपमा उपमेय की, उपमा बहुत प्रकार।" (भानु)

यहाँ एक रामनाम उपमेय की बहुत प्रकार की माय-बाप आदि उपमाएँ दी गई है, सब के धर्म भिन्न-भिन्न हैं। अतः, यहाँ मालोपमा (भिन्नधर्मा) अलंकार है।

तथा—"बंदउँ खल जस सेष सरोषा। सहस बदन बरनइ पर दोषा॥
पुनि प्रनवउँ पृथुराज समाना। पर अघ सुनइ सहस दस काना॥
बहुरि सक्रसम बिनवउँ तेही। संतत सुरानीक हित जेही॥
(मा० बा० ३)।

[५१]

राम नाम जपु 'तुलसी' होइ बिसोक।
लोक सकल कल्यान नीक परलोक॥

अर्थ—श्रीतुलसीदासजी कहते हैं (कि श्रीरामनाम के विश्वास पर) निश्चिन्त होकर श्रीरामनाम का जप करो, इससे लोक में समस्त कल्याण सम्पन्न होंगे और परलोक भी अच्छा बन जायगा।

विशेष—'होइ बिसोक'; यथा—"तुलसी की साहसी सराहिये कृपानिधान नाम के भरोसे परिनाम को निसोचु हैं ॥" (क० उ० ८१); तथा—"मोको भलो राम नाम सुरतरु-सो, राम प्रसाद कृपालु कृपा के। तुलसी सुखी निसोच राज ज्यों बालक माय-बबा के ॥" (वि० २२५)।

'लोक सकल कल्यान…'; यथा—"राम नाम कलि अभिमत दाता। हित परलोक लोक पितु माता ॥" (मा० बा० २६); "लोक-परलोक रघुनाथ ही के हाथ सब, भारी है भरोसो तुलसी के एक नाम को ॥" (क०उ० १०७); "स्वारथ सकल परमारथ को राम नाम…" (क० उ० १७८); इत्यादि।

[५२]

तप तीरथ मख दान नेम उपवास।
सब ते अधिक राम जपु 'तुलसीदास'।

अर्थ—श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि तपस्या, तीर्थाटन, यज्ञ, दान, पूजा-पाठ आदि का नियम और उपवास आदि सबसे अधिक (महत्त्वशाली) जान कर श्री 'राम' इस नाम का जप करना चाहिये।

विशेष—'तप तीरथ…'; यथा—"तेन तप्तं तेन दत्तमेवाखिलं तेन सर्वं कृतं कर्मजालं। जेन श्रीरामनामामृतं पानकृतमनिस मनवद्यमवलोक्य कालं ॥" (वि० ४६); "श्रीरामनाम लेत होत सुलभ सकल धरम।" (वि० १३१); "जथा भूमि सब बीज मै, नखत निवास अकास। राम नाम सब धरम मै, जानत तुलसीदास ॥" (दोहावली २९); "साधत साधु लोक परलोकहु सुनि गुनि जतन घनेरे। तुलसी के अवलंब नाम को एक गाँठि कइ फेरे ॥" (वि० २२७); "तीरथ अमित कोटि सम पावन। नाम अखिल अघ पुंज नसावन ॥" (मा० उ० ९१); अर्थात् नाम से समस्त धर्म एवं धर्मफल प्राप्त होते हैं।

'सब ते अधिक नाम…'; यथा—"धर्मकल्पद्रुमाराम हरिधामपथि-संबलं मूलमिदमेवमेकं। भक्ति-वैराग्य-विज्ञान-समदान दम, नाम आधीन साधन अनेकं ॥" (वि० ४६); "राम राग नाम सों बिराग जोग जागि है।" (वि०

७०); "राम नाम को अंक है, सब साधन है सून। अंक गये कछु हाथ नहिं, अंक रहे दसगून ॥" (दोहावली १०); तथा—"कृते यद्वत्सरात्साध्यं पुण्यं माधवतोषणम्। त्रेतायां मासतः साध्यं द्वापरे पक्षतो नृप ॥ तस्माद्दशगुणं पुण्यं कलौ विष्णुस्मृतेर्भवेत् ॥" (स्कन्द पु० वैष्णव खंड, वै० मा० २२।२०-२१); अर्थात् सतयुग में भगवान् को सन्तुष्ट करने वाला जो पुण्य एक वर्ष में साध्य है, वही त्रेता में एक मास में और द्वापर में पन्द्रह दिनों में साध्य होता है; परन्तु कलियुग में भगवान् का (नाम) स्मरण कर लेने से ही उससे दस गुणा पुण्य होता है।

[५३]

महिमा रामनाम की जान महेस।
देत परमपद कासी करि उपदेस ॥

अर्थ—श्रीरामनाम के महत्त्व एवं प्रभाव को श्रीमहादेवजी जानते हैं; क्योंकि इसी का उपदेश करके वे काशी में (सभी प्राणियों को) मोक्ष दिया करते हैं।

विशेष—श्रीरामतापनीय उपनिषद् में लिखा है कि शिवजी ने श्रीरामजी के षडक्षर मंत्रराज का (जो श्रीरामनाम से अभिन्न है) जप किया, इस पर श्रीरामजी प्रकट हुए, तब शिवजी ने यह वरदान माँगा कि मेरे काशी क्षेत्र में जो प्राण त्याग करें, उन्हें मुक्ति प्राप्त हो, इस पर श्रीरामजी ने कहा कि इस क्षेत्र में मरने वालों के कान में मेरे इस मंत्र का उपदेश दे दिया करो, इससे सब मुक्ति प्राप्त हो जाया करेंगे।

श्रीरामनाम और उनका षडक्षर मंत्रराज ये दोनों अभिन्न हैं; यथा—"सर्वेषां राममंत्राणां श्रेष्ठं श्रीतारकं परम्। षडक्षरमनुं साक्षात्तथा युग्माक्षरं वरम् ॥" (मत्स्य पुराण); तथा—"महामंत्र जोइ जपत महेसू। कासी मुकुतिहेतु उपदेसू ॥" (मा० बा० १८)।

'महिमा राम नाम की···'; यथा—"मरत महेस उपदेस हैं कहा करत, सुरसरि तीर कासी धरम धरनि। राम नाम को प्रताप हर कहैं, जपैं आप, जुग-जुग जानै जग बेदहू बरनि ॥" (वि० १८४)। "जो गति अगम महामुनि दुर्लभ कहत संत श्रुति सकल पुरान। सोइ गति मरनकाल अपने पुर देत सदा

सिव सबहि समान ।।" (वि० ३); "जोग कोटि करि जो गति हरि सों मुनि माँगत सकुचाहीं। बेद बिदित तेहि पद पुरारि पुर कीट-पतंग समाहीं ।।" (वि० ४); "जासु नाम बल संकर कासी । देत सबहि सम गति अबिनासी ।।" (मा० कि० ९); "बेद हू पुरान कही, लोकहू बिलोकियत रामनाम ही सों रीझे सकल भलाई है। कासी हू मरत उपदेसत महेस सोई साधना अनेक चितई न चित लाई है ।।" (क० उ० ७४)।

'जान महेस';—शिवजी रामनाम की महिमा जानते हैं, इसी से निज में स्थित गंगाजी, काशीक्षेत्र एवं अपने महान् सामर्थ्य की भी अपेक्षा न कर केवल नाम से ही मुक्ति देते हैं, क्योंकि रामनाम में मोक्ष दातृत्व अपरिमेय है

[५४]

जान आदिकबि तुलसी नाम-प्रभाउ ।
उलटा जपत कोल ते भये रिषिराउ ।।

अर्थ—श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि आदि कवि श्रीवाल्मीकिजी श्रीराम नाम का प्रभाव जानते हैं जो उलटा—'मरा-मरा'—जप करने से कोल (जंगली नीच जाति) से ऋषिराज हो गये ।

विशेष—'उलटा जपत'; यथा—"जान आदिकबि नाम-प्रतापू । भये सुद्ध करि उलटा जापू ।।" (मा० बा० १८)। तथा—"उलटा नाम जपत जग जाना । बालमीकि भये ब्रह्म समाना ।।" (मा० अ० १९३); "महिमा उलटे नाम की मुनि कियो किरातो ।" (वि० १५१); "राम बिहाय 'मरा' जपे ते बिगरी सुधरी कवि कोकिल हू की ।" (क० उ० ८९)। "बालमीकि ब्याध हे अगाध अपराध-निधि 'मरा' 'मरा' जपे पूजे मुनि अमरनि ।" (वि० २४७)

श्रीवाल्मीकि मुनि की कथा

वनवास-समय श्रीरामजी वाल्मीकिजी के आश्रम पर पधारे थे, उस समय वाल्मीकिजी ने उनसे स्वयं अपनी कथा कही है—

हे श्रीरामजी ! आपके नाम की महिमा कैसे कही जा सकती है ? उसी के प्रभाव से मैं ब्रह्मर्षि पद को प्राप्त हुआ । मैं पहले किरातों में पाला गया था जन्ममात्र से तो मैं ब्राह्मण था, पर आचार मेरा शूद्रों का-सा था । शूद्रा

से मेरे बहुत पुत्र हुए। मैं चोरों के संग से चोर हो गया। मैं धनुष-बाण लिये हुए काल के समान जीवों का घात करता था। एक समय वन में मुझसे सप्तर्षियों से भेंट हो गई, वे बड़े तेजस्वी थे। उनका सर्वस्व हरण करने के लिये मैंने उन पर आक्रमण किया। उन्होंने कहा, द्विजाधम! तू क्यों आ रहा है? मैंने कहा, मेरे पुत्र आदि बहुत हैं और वे भूखे हैं; मैं उनके रक्षार्थ वन में इस वृत्ति से विचरता हूँ। उन्होंने कहा, तू अपने स्वजनों से जाकर पूछ कि जो मैं नित्य पाप करके धन लाता हूँ, इस पाप में भी वे भागी होंगे या नहीं, जब तक तू आवेगा, हमलोग निश्चय यहाँ रहेंगे।

मैंने घर जाकर स्त्री एवं पुत्र आदि से वैसा ही पूछा, उन्होंने कहा, पाप आप के ही हैं, हम लोग तो केवल फल (चोरी के धन आदि) के ही भागी हैं। यह सुनकर उनसे मुझे वैराग्य हुआ। मैं फिर वहाँ आया, जहाँ वे मुनि थे।

उन करुणापूर्ण मुनियों के दर्शन से मेरा हृदय शुद्ध हो गया। मैंने धनुष-बाण त्याग कर उनको दण्डवत्-प्रणाम किया और प्रार्थना की कि मुझे नरक-सागर से बचाइये। उन्होंने कहा, उठ, उठ, तुझे संत-समागम सफल हुआ। हम तुझे उपदेश देंगे; उससे तू मोक्ष पायेगा। उन्होंने विचारा कि यह द्विजाधम यद्यपि उपेक्ष्य है तथापि शरण में आया है। अतः, रक्ष्य है। उन्होंने आपके नाम को उलट कर 'मरा' इस नाम के जप करने का उपदेश दिया और कहा कि हम जब तक लौटकर न आवें, तू इसी प्रकार जप किया कर। वे चले गये और मैं उनके आज्ञानुसार मन एकाग्र कर उसी नाम का जप करने लगा। मुझे वाह्यवृत्ति का स्मरण भी नहीं रह गया। बहुत समय पर मेरे ऊपर वल्मीक (बाँबी) हो गया, सहस्र युग बीतने पर वे सप्तर्षि फिर आये और मुझसे बोले, निकल, मैं तुरत वल्मीक से निकल आया, जैसे कुहरे से सूर्य। उन्होंने कहा — तेरा दूसरा जन्म वल्मीक से हुआ है। अतः, तू वाल्मीकि नाम का मुनीश्वर है।

हे श्रीरामजी! (आपके) श्रीरामनाम के प्रभाव से ऐसा हुआ कि मुझे श्रीसीता-लक्ष्मण के साथ आपके साक्षात् दर्शन हुए। यह कथा अध्यात्म्य रामायण, अयो० अ० ६ के अनुसार है।

स्कन्द पुराण आवन्त्य खंड, अ० मा० में भी यह कथा है, पर थोड़ा-थोड़ा

भेद है। उसमें उल्टे नाम के स्थान पर 'महामंत्र' (सीधा रामनाम) है और 'सहस्र युग' के स्थान पर १२ वर्ष ही हैं।

श्रीगोस्वामीजी ने उल्टे नाम का प्रसंग लिया है। अतः, उपर्युक्त कथा ही यहाँ ली गई है।

'तुलसी'—इस पद में ध्वनि से ग्रन्थकार ने अपने प्रति उपदेश भी दिया है; तथा—"खग गनिका गज ब्याध पाँति जहँ-तहँ हौं हूँ बैठारो। अब केहि लाज कृपा निधान परसत पनवारो फारो॥" (वि० ६४); इसमें खग आदि के समान क्रमशः चित्त, बुद्धि, मन और अहंकार कहे गये हैं, इनमें व्याध (वाल्मीकिजी) के समान त्रिधा अहंकार कहा गया है। इसके सुधार की व्यवस्था वाल्मीकि के अनुसार है।

शुद्ध जीव राजा के समान है; यथा—"निष्काज राज बिहाय नृप ज्यों स्वप्न कारागृह पर्‍यो।" (वि० १३६); यह व्याध रूप त्रिधा-अहङ्कार के वश में होने पर कारागार में पड़ा हुआ है। राजा के देश, सेना और कोष होते हैं, वैसे जीव के स्वरूप के क्रमशः सत-चित्-आनन्द हैं। इसके इन तीनों को माया के तीनों गुणों ने विषम होकर छीन लिया है। आनन्द स्वरूपता इसका कोष है, चिद्रूपता सेना और सद्रूपता देश है। जीव स्वरूप; यथा—"ईश्वर अंत जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥" (मा० उ० ११६); इसमें 'चेतन' में चिद्रूपता, 'अमल' में सद्रूपता और 'सहज सुखरासी' में आनन्द स्वरूपता कही गई है।

इसके आनन्द रूपी कोष को माया के तमोगुण ने छीना है। तामस अहङ्कार के शब्द आदि विषयों में पड़ने से इसका सहज आनन्द लूटा गया। रजोगुण जड़ है। अतः, राजस अहङ्कार ने विषम होकर इसकी चिद्रूपता को छीना है। राजस अहङ्कार से अभिमान द्वारा ज्ञान की अंगभूता सेना भी बन्दी कर ली गई। मिश्र सत्त्व से दम्भ-लोभ आदि के द्वारा इसका भक्ति रूपी (राज्य) भी छीना गया।

वाल्मीकिजी ब्राह्मण थे, पर कोलों के संग से वन में हिंसा-वृत्ति से रहते थे। वैसे ही ब्रह्म का अंश यह जीव ब्राह्मण रूप है, त्रिधा अहंकार के वशीभूत यह जीव गुण रूपी कोलों के साथ होकर संसार रूपी वन में गुणाभिमान से

अपनी आत्मा को बार-बार चौरासी लक्ष योनियों में भेज-भेज कर उसे बार-बार मारने की हिंसा कर रहा है; यथा—"कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनि जन्म सु।" (गीता १३।२१); ऐसे ही जन्मते-मरते इसे बहुत युग बीत गये। यही इस त्रिधा अहंकार की व्याध-स्वरूपता है।

व्याध रूप वाल्मीकिजी का यह दोष श्रीरामनाम के उल्टे 'मरा' इन नाम के जप से शुद्ध हुआ; यथा—"जान आदि कवि नाम-प्रतापू। भयेउ सुद्ध करि उलटा जापू॥" (मा० बा० १८); इसका भावार्थ यह है कि उल्टे नाम 'मरा' में पहला अक्षर 'म' है, यह जीव के सहज आनन्द स्वरूप की प्राप्ति कराता है। 'मदी-हर्षे' इस धातु से निष्पन्न होकर मकार आनन्दात्मक सिद्ध होता है। इससे यह जीव की 'आनन्द स्वरूपता' प्रापक है।

इस प्रकार मकार पहले जीव के स्वाभाविक आनन्द स्वरूप की प्राप्ति करा कर इसे मायिक विषयानन्द से छुड़ा इसका तमोगुण विकार शोधन करता है।

दूसरा अक्षर 'र्' है। 'यह रातृ-दीप्तौ' इस धातु से सिद्ध होकर जीव की चिद्रूपता की प्राप्ति कराता है। इससे विवेक सेना प्रबल होकर माया के रजोगुण विकार की कामादि सेना का नाश करती है। इससे रजोगुण-विकार का शोधन होता है।

तीसरा पद 'आ' अनन्यता बोधक है; यथा—"द्वितीय पदेनाकारेण अन्य-शेषत्व निवृत्तिर्भगवदनन्यार्ह शेषत्वं देवतान्तरादिशेषत्वव्यावृत्तिश्च प्रतिपाद्यते।" (रहस्यत्रय); अनन्य भक्ति प्रापक आकार जीव रूपी राजा के राज्य (देश) का प्रापक है। जीव ईश्वर का अंश है। अतएव उसकी भक्ति से युक्त रहने में इसकी वास्तविक सत्ता है; यथा—"स्वोज्जीवनेच्छा यदि ते स्वसत्तायां स्पृहा यदि। आत्म दास्यं हरेःस्वाम्यं स्वभावं च सदा स्मर॥" अर्थात् यदि तुम्हे अपने उज्जीवन की इच्छा हो और अपनी सत्ता में रुचि हो, तो जीवात्मा का दास्य और हरि का स्वाम्य, इन स्वभावों का सदा स्मरण किया करो।

इस प्रकार 'मरा' यह उल्टा नाम जीव की पूर्वावस्था के शुद्ध स्वरूप का प्रापक है ; यथा—"चिद्वाचको रकारः स्यात्सद्वाच्याकार उच्यते। मकारानन्दकं वाच्यं सच्चिदानन्द मव्ययम्॥" (महारामायाण)।

शत्रु से लड़ने में पहले उसका कोष (धन) छीनना चाहिये, तब उसकी

सेना को पराजित कर पीछे उसका देश छीनना चाहिये । इसी नीति के अनुसार श्रीरामनाम ने अपने उल्टे रूप 'मरा' से जीव की रक्षा की है। इसके त्रिधा अहंकार के व्याधपने का शोधन किया है ।

अथवा, सीधा भाव यह भी हो सकता है कि जीव ईश्वर का अंश है। अतः, इसे उसके ही सम्मुख रहना चाहिये । परन्तु देहाभिमानी होकर इसने ईश्वर की ओर पीठ दे (विमुख हो) कर अपनी वृत्ति उलट दी है। इससे मायावश ही दुःख पा रहा है। इसका नाम जप भी उल्टे उद्देश्य से होता है, विषय-स्पृहा से होता है। ऐसी अवस्था में भी इसका नाम जप व्यर्थ न होगा; यथा—"दंभ हू कलि नाम कुंभज सोच सागर सोषु।" (वि० १५६); तथा—"भाव कुभाव अनख आलस हूँ। नाम जपत मंगल दिसि दस हूँ ॥" (मा० बा० २७)।

[५५]

कलस जोनि जिय जानेउ नाम प्रतापु।
कौतुक सागर सोखेउ करि जिय जापु ।।

शब्दार्थ—कलस-योनि = श्रीअगस्त्य मुनि । कौतुक = खेल में, बे प्रयास। सोखेउ = पी लिया ।

अर्थ—कलश(घड़ा) से उत्पन्न होने वाले श्रीअगस्त्य मुनि ने श्रीराम नाम के प्रताप को हृदय से जाना है, इसी से उन्होंने इसका हृदय में जप करके विना श्रम (बात की बात में) समुद्र को पी लिया है ।

विशेष—'कलस-जोनि…'—यह आश्चर्य-घटना है, 'गागर में सागर नहीं समाता' यह कहावत है; परन्तु श्रीरामनाम के प्रताप से गागर का उत्पन्न जीव सागर पी गया, तथा—"रोक्यो बिंध्य, सोखेउ सिंधु घटज हूँ नाम बल, हारयो हिय खारो भयो भूसुर डरनि ॥" (वि० २४७); "कहँ कुंभज कहँ सिंधु-अपारा । सोखेउ सुजस सकल संसारा ।।" (मा० बा० २५५)।

श्रीअगस्त्यजी की कथा

मित्रावरुण ने एक बार यज्ञ किया, उसमें अनेक ऋषि, सिद्ध और देव गण एकत्र हुए। सब ने मिल कर एक घट स्थापित किया और उसमें अपनी-अपनी

क्ति और तेज रक्खे; उसी घट से अगस्त्यजी की उत्पत्ति हुई। इसी से इनकी ज एवं कलश योनि आदि संज्ञाएँ हैं।

ये श्रीरामनाम का जप किया करते थे; यथा—"राम अनुज समेत बैदेही। सि-दिन देव जपत हहु जेही॥ सुनत अगस्त्य तुरत उठि धाये।" (मा० र० ११); इसी प्रकार जप करके इन्होंने हृदय से नाम का प्रताप जाना है र फिर उसी से विन्ध्य रोकने और समुद्र सोखने का यश पाया है, उसकी था महाभारत वन पर्व अ० १०४-१०६ में है—

एक समय जब इन्द्र ने वृत्रासुर का वध किया तब वृत्रासुर के साथी लेकेय नामक असुरों का एक दल समुद्र में छिप कर रहता था। वह दल त में ब्राह्मणों का वध करता था। इस पर देवताओं ने भगवान् विष्णु से र्थना की। भगवान् ने कहा कि आप लोग श्रीअगस्त्यजी से प्रार्थना करें। वे समुद्र को सोख सकते हैं और तभी उन असुरों का नाश होगा।

देवताओं ने श्रीअगस्त्यजी से प्रार्थना की और कहा कि आपने ही विन्ध्या- ल को (बढ़ने से) रोका है, वह सूर्य के प्रति क्रोध करके बढ़ता था, आप ा ही वचन मान रुक गया है। ऐसा कहते हुए लोमशजी से युधिष्ठिरजी ने स प्रसंग का विस्तार पूछा, तब श्रीलोमशजी ने कहा है—

सूर्य सुमेरु गिरि की प्रदक्षिणा किया करते हैं। एक समय विन्ध्य ने कहा कि मेरी भी प्रदक्षिणा किया कीजिये। सूर्य ने कहा कि मेरे लिये जो मार्ग सना- तन से दिया गया है, उसी पर मैं चलता हूँ। इस पर विन्ध्य ने क्रुद्ध होकर सूर्य और चन्द्रमा के मार्ग रोकने की इच्छा की। देवताओं ने बहुत रोका, पर उसने नहीं माना। तब देवताओं ने अगस्त्यजी से दुःख रोया और यह भी कहा कि आप ही इसे रोकने में समर्थ हैं।

अगस्त्यजी अपनी स्त्री के साथ विन्ध्याचल के समीप गये। विन्ध्याचल भी (मूर्त्तिमान् हो) इनके दर्शनार्थ आये। अगस्त्यजी ने विन्ध्य से कहा कि हे पर्वत श्रेष्ठ! हम किसी कार्य से दक्षिण जा रहे हैं, इस लिये तुम हमें मार्ग दो, जब तक हम उधर से लौटकर न आवें, तुम हमारा मार्ग देखना। मेरे आने पर फिर तुम इच्छानुसार बढ़ना। इस प्रकार विन्ध्य से प्रतिज्ञा कर मुनि गये और अब तक उधर से नहीं लौटे। विन्ध्य का बढ़ना रुक गया।

लोमशजी ने फिर पूर्व के स्थगित समुद्र-शोषण-प्रसंग में कहा कि देवताओं के वैसा कहने पर अगस्त्यजी ने उनसे कहा कि आप लोग क्यों मेरे पास आये हैं ? इस पर देवों ने समुद्र-शोषणार्थ प्रार्थना की। उन्होंने स्वीकार कर समुद्र तट पर गमन किया। उनके साथ में ऋषि, गन्धर्व, किन्नर, यक्ष एवं मनुष्य भी चले, क्योंकि सभी इस आश्चर्य कर्म को देखना चाहते थे।

अगस्त्यजी ने सबसे कहा कि आप लोगों को जो कुछ अनुष्ठान आदि करना हो, कर लो; मैं अब समुद्र सोखना चाहता हूँ। ऐसा कह कर उन्होंने क्रोध में भर कर समुद्र को पी लिया (रामाय नमः, रामभद्राय नमः और रामचन्द्राय नमः—ऐसा कह कर क्रमशः तीन चुलुकों के साथ सारे सागर को पी लिया—इसी से ये समुद्र चुलुक एवं पीताब्धि कहाये—ऐसा प्रसिद्ध है)। यह देख आश्चर्य मान कर इन्द्र आदि देवगण इनकी स्तुति करने लगे और फिर इनकी पूजा करने लगे।

इसके पश्चात् देवताओं ने उन कालेय नामक असुरों के दल को ढूँढ़ कर युद्ध करके मार डाला। उनमें जो बचे, वे पाताल भाग गये। फिर देवताओं ने अगस्त्यजी से समुद्र में जल भरने की प्रार्थना की। मुनि ने कहा कि वह जल तो मेरे उदर में पच गया। अतः, आप लोग समुद्र भरने का दूसरा उपाय करें। तब आश्चर्य मान कर सब चले गये।

फिर विष्णु भगवान् के साथ देवगण ब्रह्माजी के पास गये और समुद्र-शोषण की कथा सुनाई। ब्रह्माजी ने कहा कि राजा भगीरथ के द्वारा गंगाजी आवेंगी, तब यह समुद्र भर जायगा।

फिर आगे अध्याय १०९ के १७ वें श्लोक में कहा गया है कि जब भगीरथ महाराज श्रीगंगाजी को साथ लेकर सागर तट पर पहुँचे, तब गंगाजी ने अपने वेग से समुद्र को भर दिया।

समुद्र के खारे होने की कथा महाभारत शान्ति० ३४२।६०–६१ में इस प्रकार है—पूर्व समय में नारायण भगवान् लोक-हितार्थ बड़वामुख नामक महर्षि हुए। उन्होंने सुमेरु पर्वत पर तपस्या करते हुए समुद्र का आह्वान किया, समुद्र नहीं आया, तब क्रुद्ध होकर उन्होंने अपने शरीर की ताप से समुद्र को भिगाया। समुद्र में उनका खारा पसीना झरने से समुद्र जल खारा हो गया।

न्होंने समुद्र से कहा कि तुम अपेय होगे। तुम्हारा जल बड़वानल के हारे पीने योग्य होने से मधुर होगा। इसी से आज तक समुद्र का जल सके अनुवर्त्ती बड़वामुख के कहारे पीयमान होता है।

'कौतुक'—यह पद आश्चर्य अर्थ-परक भी है।

[५६]

तुलसी सुमिरत राम सुलभ फल चारि।
वेद-पुरान पुकारत कहत पुरारि॥

अर्थ—श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीरामजी का स्मरण करने से चारो ल—अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष—सुलभ हो जाते हैं, वेदों और पुराणों की सी ही घोषणा है तथा श्रीशिवजी भी कहते हैं।

विशेष—श्रीरामजी का स्मरण यहाँ उनके नाम (रामनाम) के द्वारा ही ोना कहा गया है, उसी से चारो फल सुलभ होते हैं; यथा—"राम नाम ामतरु देत फल चारि रे। कहत पुरान, बेद, पंडित पुरारि रे॥" (त्रि० ६७); 'नाम जाको कामतरु देत फल चारि, ताहि तुलसी बिहाइ कै बबूर रेंड़ ोड़िये॥" (क० उ० २५)।

श्रीगोस्वामीजी ने श्रीरामचरित मानस बालकांड दोहा १८ में श्रीरामनाम से चारो फलों की सुलभता चरितार्थ रूप में लिखी है। शिवजी ने श्रीरामनाम से स्वयं अविनाशी पद प्राप्त किया है और काशी क्षेत्र में जीव-जन्तु पर्यन्त को मरते समय मुक्तिपद दिया करते हैं। गणेशजी ने रामनाम से पूज्यपद प्राप्ति की कामना-सिद्धि पाई है और सारे संसार की कामना पूर्ति किया करते हैं, इसी से वे शुभ कर्मों में पहले पूजे जाते हैं। वाल्मीकिजी ने रामनाम के उल्टे स्वरूप (मरा) के जप से पापों की शुद्धि पाई है, यह अर्थ फल का उत्तम फल है। द्रव्यादि से यदि विधिवत् अश्वमेध आदि यज्ञ किये जाते हैं, तो एक ब्रह्म हत्या की शुद्धि होती है, उनकी तो बहुत-सी ब्रह्म हत्याओं के पापों की शुद्धि हुई है। यह उपर्युक्त पद ५४ में लिखा गया। वाल्मीकिजी अपनी रामायण के एक-एक अक्षरों से लोगों के महापातकों का नाश करते हैं, यह अर्थ-फल का भी उत्तम फल संसार को बाँटते हैं। श्रीपार्वतीजी ने श्रीरामनाम की श्रद्धा से पातिव्रत्य धर्म का फल स्वरूप पति के स्वरूप की प्राप्ति इसी लोक

में की है। वे भी सारे संसार की स्त्रियों को पतिव्रत धर्म बाँटा करती हैं; यथा – "एहि कर नाम सुमिरि संसारा। तिय चढ़िहहिं प्रतिव्रत असि धारा॥" (मा० बा० ६७)।

श्रीरामनाम में इस प्रकार चार फल देने की उदारता है कि इसके जापक भी चार फल देने वाले हो जाते हैं।

श्रीरामचरितमानस के उपर्युक्त चौपाइयों के साथ सम्पूर्ण दोहे का अर्थ उसके 'सिद्धान्त तिलक' में तथा 'श्रीमन्मानस नाम वंदना' ग्रंथ में विस्तार से किया गया है, उक्त दोनों ग्रंथ मेरे ही हैं, इससे यहाँ केवल उनका सारांश ही लिखा है।

वेद-पुरान पुकारत'; यथा—"यस्य नाम महद्यशः न तस्य प्रतिमाऽस्ति।" (यजुर्वेद); अर्थात् जिसका नाम और यश महान् है, उसकी बराबरी का कोई नहीं है। इस वेद-वाक्य का स्पष्टीकरण पद्मपुराण में है; यथा— 'रुद्रो दिशति यन्मन्त्रं यस्य नाम महद्यशः। न तस्य प्रतिमा क्वापि तं रामं राघवं भजे॥" अर्थात् ब्रह्म का वह महान् (यशस्वी) नाम रामनाम ही है।

अथर्वण वेद की श्रीराम तापनीयोपनिषद् का कथन; यथा—"स्वभूर्ज्योतिर्मयोनंतरूपी स्वेनैवभासते।" से "यथा नामी वाचकेन नाम्नायोभिमुखो भवेत्। तथा बीजात्मको मन्त्रो मंत्रिणोऽभिमुखो भवेत्॥" (२।१४-२१); इन आठ मंत्रों में श्रीरामनामार्थ की रहस्यमय विशद व्याख्या है।

'पुराण-कथन'; यथा—' नाम चिन्तामणी रामश्चैतन्यपरा विग्रहः। पूर्णः शुद्धो नित्ययुक्तो न भिन्नो नाम नामिनोः॥" (पद्मपुराण–श्रीसीताराम नाम प्रताप-प्रकाश); "विष्णोरेकैकनामापि सर्ववेदाधिकं मतम्। तेभ्यश्चानन्तनामभ्योऽधिकं नाम्नां सहस्रकम्॥ तादृङ्नामसहस्रेण रामनामसमं मतम्॥" (स्कन्द पुराण, वैष्णव खंड, वै० मा० २१। ५२-५४); "दैवाच्छूकरशावकेन निहतो म्लेच्छो जराजर्जरो हारामेण हतोस्मि भूमिपतितो जल्पंस्तनुं त्यक्तवान्। तीर्णो गोष्पदवद्भवार्णवमहो नाम्नः प्रभावात्पुनः किं चित्रं यदि रामनामरसिकास्ते यान्ति रामास्पदम्॥" (वाराह पुराण); इत्यादि।

'कहत पुरारि'; यथा—"जिन्ह कर नाम लेत जग माहीं। सकल अमंगल मूल नसाहीं॥ करतल होहिं पदारथ चारी। तेइ सिय राम कहेउ कामारी॥" (मा० बा० ३१४); "कासी मरत जंतु अवलोकी। जासु नाम बल करउँ

त्रिलोकी ॥ सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी । रघुवर सब उर अंतरजामी ॥" (मा० बा० ११८); "राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे । सहस्रनामता तुल्यं रामनाम बरानने ॥ जपतः सर्ववेदांश्च सर्वमन्त्रांश्च पार्वति । तस्मात्कोटि-गुणं पुण्यं रामनाम्नैव लभ्यते ॥" (पद्मपुराण-श्रीसीताराम नाम प्रताप प्रकाश)।

अलङ्कार—'शब्द प्रमाण'

लक्षण—"जहाँ शास्त्र अरु लोक को, बचन प्रमाण बखान ।
सोई शब्द प्रमाण है, भाषत सुकवि सुजान ॥" (भानु)

यहाँ यह अलङ्कार स्पष्ट है । आगे छन्द ६२ भी देखिये ।

[५७]

रामनाम पर तुलसी नेह निबाहु ।
एहि ते अधिक न एहि सम जीवन लाहु ॥

अर्थ—श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीरामनाम-आराधन पर स्नेह निर्वाह करते रहो । संसार में जीवन धारण का लाभ न तो इससे अधिक है और न इसके समान ही है ।

विशेष—'श्रीरामनाम-स्नेह-महिमा'; यथा—"राम रावरो नाम साधु-सुरतरु है । सुमिरे त्रिबिध घाम हरत, पूरत काम सकल सुकृत सरसिज को सरु है । लाभहू को लाभ सुखहू को सुख सरबस, पतित पावन डरहू को डरु है । नीचे हू को, ऊँचे हू को, रंक हू को, राय हू को, सुलभ सुखद आपनो-सो घरु है ॥ बेदहू पुरान हू पुरारिहू पुकारि कह्यो, नाम प्रेम चारि फलहू को फरु है । ऐसे रामनाम सों न प्रीति न प्रतीति मन, मेरे जान, जानिबो सोई नर खरु है । नाम सों न मातु-पितु, मीत-हित, बंधु-गुरु, साहिब सुधी सुसील सुधाकरु है । नाम सो निबाह नेहु, दीन को दयालु ! देहु, दास तुलसी को, बलि, बड़ो बरु है ॥" (वि० २५५); तथा—"नाम को भरोसो बल चारिहू फल को फल, सुमिरिये छाँड़ि छल भलो कतु है ॥ स्वारथ-साधक, परमारथ-दायक नाम, राम नाम सारिखो न और हितु है ।" (वि० २५४)।

[५८]

दोष दुरित दुख दारिद दाहक नाम ।
सकल सुमंगल दायक तुलसी राम ॥

शब्दार्थ—दोष=अवगुण। दुरित=पाप। दुख (दुःख)=तीन प्रकार के दुःख—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तापें। दारिद (दारिद्रय = दरिद्रता, अन्न-वस्त्र आदि द्रव्यों की कमी।

अर्थ—श्रीरामनाम दोष, पाप, त्रिविध दुःख और दरिद्रता का जलाने वाला है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीरामजी समस्त सुन्दर कल्याणों को देने वाले हैं।

विशेष—दोष और दुःख का जलाना; यथा—"रिषि हित राम सुकेतु-सुता की। सहित सेन सुत कीन्ह बेबाकी॥ सहित दोष दुख दास दुरासा। दलइ नाम जिमि रवि निसि नासा॥" (मा० बा० २३); अर्थात् जिस गुण से श्रीरामजी ने मारीच और सुबाहु का नाश किया है, उसी से उनका नाम दोष और दुःख का नाश करता है। दुरित (पाप) का जलाना; यथा—"तीरथ अमित कोटि सम पावन। नाम अखिल अघ पूग नसावन॥" (मा० उ० ९१); "कलिमल मथन नाम ममताहन।" (मा० उ० ५०); त्रिविध-दुःख का जलाना; यथा—"राम राम राम जीह जौ लौं तू न जपि है। तौ लौं तू कहूँ ही जाय तिहूँ ताप तपि है।" (वि० ६८); "जो जन प्रीति-प्रतीति सों रामनामहि रातो। तुलसी राम प्रताप ते तिहुँ ताप न तातो॥" (वि० १५१); दारिद-दाहकता; यथा—"रोटी लूगा नीके राखै आगे हू को बेद भाषै।" (वि० ७६); "जायो कुल मंगन, बधावनो बजायो सुनि, भयो परिताप पाप जननी-जनक को। बारे ते ललात बिललात द्वार-द्वार दीन, जानत हो चारि फल चारि ही चनक को॥ तुलसी सो साहिब समर्थ को सुसेवक है, सुनत सिहात सोच बिधि हू गनक को। नाम राम! रावरो सयानो किधौं बावरो जो करत गिरी तें गरु, तृन ते तनक को॥" (क० उ० ७२)।

'सकल सुमंगल दायक...'-नाम के अर्थ से आराधित फल रूप ही देता है, इससे उत्तरार्द्ध में सुमंगल दातृत्व 'राम' (रूप) का कहा गया है, भाव यह कि जापक के दोष आदि का नाश कर श्रीरामजी अपनी ओर से इसे समस्त कल्याण देते हैं; यथा—"नाथ! कुसल कल्यान सुमंगल बिधि सुख सकल सुधारि कै। देत लेत जो नाम रावरो बिनय करत मुख चारि कै॥" (गी० सुं० ३६)—यह श्रीविभीषणजी ने कहा है। तथा—"जिन्ह कर नाम लेत जग

हीं। सकल अमंगल मूल नसाहीं ।। करतल होहिं पदारथ चारी। तेइ सिय-
म कह्यो कामारी ।।" (मा० बा० ३१४)। "हरन अमंगल अघ अखिल,
रन सकल कल्यान। राम नाम नित कहत हर, गावत बेद-पुरान (दो० ३५)।

[५६]

केहि गनती महँ गनती जस बन घास।
राम जपत भए तुलसी तुलसीदास।।

अर्थ—किस (वर्ग) की गणना में मेरी गणना थी ? (अर्थात् कोई बात
हीं पूछता था), जैसे वन की घास, भंग आदि (उपेक्ष्य होते हैं, वैसे मैं
पेक्षणीय था) परन्तु, श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीरामनाम का जप करने
मैं तुलसी (के समान पवित्र एवं पूज्य) हो गया।

विशेष—यहाँ के 'वनघास' इस पद का अर्थ अन्यत्र स्पष्ट किया गया है;
था—"नाम राम को कलपतरु, कलि कल्यान-निवास। जो सुमिरत भयो भाँग
, तुलसी तुलसीदास।" (मा० बा० २६); अर्थात् मैं तो वन की घास
भाँग के समान था। कामुकता रूपी मादकता से भरा रहता था। मेरी संगति
करने वाले भी काम-मद से पूर्ण हो जाते थे, जैसे भाँग पीने से लोग मतवाले
हो जाते हैं। परन्तु रामनाम जप से मैं तुलसी के समान पवित्र एवं जगत्पूज्य
हो गया; तथा—"अपत, उतार, अपकार को अगार जग, जाकी छाँह छुए
सहमत ब्याध बाधको। पातक पुहुमि पालिबे को सहसानन सों, कानन कपट
को, पयोधि अपराध को।। तुलसी से बाम को भो दाहिनो दयानिधान, सुनत
सिहात सब सिद्ध साधु साधको। राम नाम ललित ललाम कियो लाखनि को,
बड़ो क्रूर कायर कपूत कौड़ी आध को।" (क० उ० ६८); "राम नाम को
प्रभाउ, पाउ महिमा प्रताप, तुलसी सो जग मनियत महामुनी सो।" (क०
उ० ७२)। "छाछी को ललात जे ते रामनाम के प्रसाद खात खुनसात सोंधे
दूध की मलाई है।" (क० उ० ७४)। तुलसी किसान के ऋण से पृथक्
रहती है, इसी से इसके दाने चक्की में नहीं पीसे जाते। वैसे ही मैं नाम-जप से
श्रीरामजी का शुद्ध शरणागत हो गया, इससे तीनों ऋणों से उऋण हो गया।
अब यम-यातना में एवं भव यातना में नहीं पिसूंगा। तुलसी श्रीरामजी को प्रिय
होती है, यथा—"रामहि प्रिय पावनि तुलसी-सी।" (मा० बा० ३०)।

वैसे मैं भी श्रीरामजी का प्यारा एवं पवित्र बन गया। तुलसी को प्यार से श्रीरामजी अर्चारूप में शिर पर रखते हैं, वैसे श्रीरामजी ने जगत् रूपी शरीर से मुझे पूज्य बना दिया है, यही शिर पर रखना है।

यहाँ नाम का गुण कह रहे हैं कि रामनाम ऐसे अपावन एवं गये बीतों को ऐसा श्रेष्ठ बना देता है, यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। इसमें आत्मश्लाघा रूप दोष नहीं है।

अलङ्कार—'प्रथम उल्लास'।

लक्षण—"और वस्तु गुन पाइ कै, और होत गुनवान।
न्हाइ संत पावन करैं, गंग मनावत आन॥"

उदाहरण—"जे हरषहिं पर संपति देखी।" (मा० अ० १२९)।

यहाँ रामनाम के गुणों से तुलसीदास का पावन होना और तुलसी के समान गुण प्राप्त करना कहा गया है। अतः, 'प्रथम उल्लास' है।

[६०]

आगम निगम पुरान कहत करि लीक।
तुलसी नाम राम कर सुमिरन नीक॥

शब्दार्थ—आगम=शास्त्र। निगम=वेद। करि लीक=रेखा खींच, निश्चय पूर्वक; यथा—"रेख खचाइ कहउँ बल भाषी।" (मा० अ० १८)।

अर्थ—श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि वेद-शास्त्र और पुराण निश्चय करके दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि श्रीरामजी के नाम का स्मरण करना अच्छा है।

विशेष—पद ५६ में वेद-शास्त्र के कुछ प्रमाण लिखे जा चुके हैं। 'करि लीक'; यथा—"राम नाम रावरोई हित मेरे। स्वारथ-परमारथ-साथिन्ह सों भुज उठाइ कहौं टेरे॥···साधत साधु लोक-परलोकहु सुनि-गुनि जतन घनेरे। तुलसी के अवलंब नाम को, एक गाँठि कइ फेरे॥" (वि० २२७); "नाम प्रभाउ सही जो कहै कोउ सिला सरोरुह जामो। जो सुनि सुमिरि भाग-भाजन भइ सुकृत सील भील-भामो।" (वि० २२८); 'सुमिरन नीक'; यथा—"कहत-सुनत सुमिरत सुठि नीके।" (मा० बा० १९)। "रोटी लूगा नीके राखै आगे हु की बेदभाषै, भलो होइ हैं तेरो ताते आनँद लहतु हैं।" (वि० ७६); इत्यादि।

अलङ्कार—'शब्द प्रमाण' (लक्षण पद ५६ में लिखा गया)।

[६१]

सुमिरहु नाम राम कर सेवहु साधु।
तुलसी उतरि जाहु भव-उदधि अगाधु ॥

अर्थ—श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीरामजी के नाम का स्मरण करो और साधु-सेवा करो; इससे अगाध भव सागर से पार हो जाओगे।

विशेष—यहाँ भव सागर उतरने के दो साधन कहे गये हैं कि वाणी और हृदय (मन) से श्रीरामजी के नाम का स्मरण किया जाय और कर्म से साधु सेवा की जाय तो भव निवृत्ति अत्यन्त शीघ्र होती है।

साधु सेवा से लाभ; यथा—"जब द्रवै दीन दयालु राघव साधु-संगति पाइये। जेहि दरस परस समागमादिक पापरासि नसाइये ॥ जिन्हके मिले दुख-सुख समान अमानतादिक गुन भये। मद मोह लोभ बिषाद क्रोध सुबोध ते सहजहि गये ॥ सेवत साधु द्वैत भय भागै। श्री रघुबीर चरन लय लागै ॥ देह जनित बिकार सब त्यागै। तब फिरि निज सरूप अनुरागै ॥ अनुराग जो निज रूप ते जग ते बिलच्छन देखिये। संतोष सम सीतल सदादम देववंत न लेखिये ॥ निर्मम, निरामय, एकरस, तेहि हर्ष सोक न ब्यापई। त्रैलोक पावन सो सदा जाकी दसा ऐसी भई ॥" (वि० १३६)। "मुख देखत पातक हरैं, परसत करम बिलाहिं। बचन सुनत मन मोह गत, पूरब भाग मिलाहिं ॥" (वैराग्य संदीपिनी २४); "सीतल बानी संत की, ससिहू ते अनुमान। तुलसी कोटि तपनि हरै, जो कोउ धारै कान ॥ पाप ताप सब सूल नसावै। मोह अंध रबि बचन बहावै ॥ तुलसी ऐसे सद्गुन साधू।" (वैराग्य संदीपिनी २१–२२)। "भव-सागर कहँ नाव सुद्ध संतन के चरन। तुलसीदास प्रयास बिनु मिलहिं राम दुख हरन ॥" (वि० २०३)। तथा—"साधूनां समचित्तानां सुतरां मत्कृतात्मनाम्। दर्शनान्नो भवेत् बन्धः पुंसोऽक्ष्णोः सवितुर्यथा ॥" (भाग० १०।१०।४१); अर्थात् जैसे सूर्य के दर्शन होने पर आँखें खुल जाती हैं, इससे सब कुछ निवारण दीखने लगता है, वैसे ही समान चित्त एवं भगवन्निष्ठ सन्तों के दर्शन से कोई बन्धन नहीं रह जाता, ज्ञान नेत्र खुल जाते हैं। "न ह्यम्म-यानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः। ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥"

(भाग० १०।४८।३१, १०।८४।११, १२।१०।२३); अर्थात् जलमय तीर्थ अवश्य तीर्थ हैं और मिट्टी तथा शिलामय देवता भी अवश्य देवता हैं; किन्तु साधु उनसे श्रेष्ठ हैं, क्योंकि वे चिरकाल सेवन करने पर पवित्र करते हैं और साधु लोग दर्शन से ही शरीर और मन शुद्ध कर देते हैं। "अयं हि परमो लाभो नृणां साधुसमागमः ।" (भाग० १२।१०।७); अर्थात् मनुष्यों के लिये साधुसमागम ही परम लाभ है ।

इस प्रकार साधु-सेवा से भव पार होने की व्यवस्थाएँ हैं ।

श्री राम-नाम-स्मरण से भव-तरन; यथा—"घोर भव नीर-निधि नाम निज नाव रे ।" (वि० ६६); "विवसहु जासु नाम नर कहहीं । जनम अनेक रचित अघ दहहीं ।। सादर सुमिरन जे नर करहीं । भव-बारिधि गोपद इव तरहीं ।।" (मा० बा० ११८) । "जासु नाम सुमिरत यकबारा । उतरहिं नर भव-सिंधु अपारा ।।" (मा० अ० १००); "सुनहु भानुकुल केतु, जामवंत कर जोरि कह । नाथ नाम तव सेतु, नर चढ़ि भव-सागर तरहिं ।।" (मा० लं० १); "नाम अजामिल से खल कोटि, अपार नदी भव बूड़त काढ़े ।।" (क०अ० ५); इत्यादि ।

इन प्रमाणों से साधु सेवा और रामनाम-स्मरण पृथक्-पृथक् भी भव-तरण के उपाय हैं; तथा—"दर्शनान्मम भक्तानां मृत्युमाप्नोति यः क्वचित् । विना मत्स्मरणात्पुत्र मुक्तिमेति स मानवः ।।" (स्कन्द पुराण, वैष्णव खंड, मा० मा० १५।४३); तथा—"अंतकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् । य प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ।।" (गीता ८।५); इत्यादि ।

यहाँ साथ ही साथ दोनों कहे गये हैं, इसका भाव यह कि सत्संग से विवेक एवं भक्ति दृढ़ होती रहेगी और फिर विना श्रम ही नाम-प्रसाद से कल्याण हो जायगा; यथा—"सेवक सुमिरत नाम सप्रीती । विनु श्रम प्रबल मोह दल जीती ।। फिरत सनेह मगन सुख अपने । नाम-प्रसाद सोच नहिं सपने ।।" (मा० बा० २४) ।

अलङ्कार—'सम अभेद रूपक' ।

'भव-उदधि अगाध' इसमें यह अलंकार है । लक्षण पद ६ में देखिये ।

[६२]

कामधेनु हरि नाम कामतरु राम ॥
तुलसी सुलभ चारि फल सुमिरत नाम

अर्थ—श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि क्लेश हरण करने वाले श्रीरामजी का नाम कामधेनु के समान और श्रीरामजी कल्पवृक्ष के समान हैं, नाम का स्मरण करते ही चारो फल—अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष सुलभ हो जाते हैं।

विशेष—'कामधेनु हरिनाम'; यथा—"राम की सपथ सर्बस मेरे राम नाम कामधेनु कामतरु मोसे छीन छाम को ॥" (क० उ० १७८); 'कामतरु राम'; यथा—"देव देवतरु सरिस सुभाऊ। सनमुख बिमुख न काहुहि काऊ ॥ जाइ निकट पहिचानि तरु, छाँह सबनि सब सोच। माँगत अभिमत पाव जग, राउ रंक भल पोच ॥" (मा० अ० २६७); "सुनु सेवक सुरतरु सुरधेनू। बिधि हरि हर बंदित पद रेनू ॥" (मा० बा० १४५), उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि नाम और रूप दोनों ही कामधेनु और कामतरु हैं, परन्तु यहाँ 'हरिनाम कामधेनु' और 'राम कामतरु' कहे गये हैं। नाम के साथ हरि विशेषण है, भाव यह कि आश्रितों का क्लेश हरण करने में नाम कामधेनु के समान सर्वत्र जा-जाकर उनके मनोरथों को पूर्ण करता है; यथा—"आरत पाल कृपाल जो राम, जेही सुमिरे तेहि को तहँ ठाढ़े।" (क०उ०१२७); "अंतर जामिहु तें बड़ बाहर जामि हैं राम, जे नाम लिये ते। धावत धेनु पन्हाइ लवाइ ज्यों बालक बोलनि कान किये ते ॥" (क० उ० १२९)। रूप के निकट जाकर पहचान पूर्वक उससे माँगना पड़ता है, ऊपर लिखा गया। नाम के द्वारा ही रूप की पहचान होती है, यथा—"रूप बिसेप नाम बिनु जाने। करतल गत न परहि पहिचाने ॥" (मा० बा० २०), इससे नाम के द्वारा ही रूप कल्पवृक्ष से मनोरथ पूर्त्ति होती है।

जप की विधि है कि नामार्थ में रूप के गुणों की भावना करते हुए नाम जप करने से उन-उन गुणों के साथ रूप जापक के मनोरथ पूर्ण करता है, तब उसका कामतरु रूप सिद्ध होता है। इसलिये यहाँ 'कामधेनु हरिनाम' यह प्रथम कहा गया है कि नाम भक्त के हृदय में प्रथम जाकर रूप का परिचय

करा उसके द्वारा भक्त के मनोरथ पूर्ण करता है, क्योंकि यह कामधेनु के समान है, वह कामधेनु चलती-फिरती है।

बरवै के पूर्वार्द्ध में रीति बतलाकर उत्तरार्द्ध में उस रीति से आराधक को चारो फलों की प्राप्ति कही गई है कि उक्त रीति से स्मरण करते ही इससे चारों फल शीघ्र प्राप्त होते हैं।

उपर्युक्त पद ५६ में चारो फलों की प्राप्ति कही थी और प्रमाण भी कहे गये थे, पर रीति कहनी अवशिष्ट थी, उसकी पूर्त्ति यहाँ पर की है। अतः, दोनों को पढ़कर सम्यक् भाव एवं प्रमाण समझना चाहिये।

अलङ्कार—'सम अभेद रूपक'—(पूर्वार्द्ध में)।

[६३]

तुलसी कहत सुनत सब समुझत कोय।
बड़े भाग अनुराग राम सन होय॥

अर्थ—श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि (राम नाम-परत्व को) सब कोई कहते-सुनते हैं, परन्तु कोई (बिरला) ही इसे समझता है; क्योंकि बड़े भाग्य के उदय होने पर श्रीरामजी से अनुराग होता है।

विशेष—ऊपर के पद में नाम और रूप के बर्ताव की रीति कही गई, इस रीति का विस्तार "समुझत सरिस नाम अरु नामी। प्रीति परस्पर प्रभु अनुगामी॥" से "नाम रूप गति अकथ कहानी। समुझत सुखद न परति बखानी॥" (मा० बा० २०) तक है। उस एक ही दोहे में चार वार समझना कहा गया है।❀

उन्हें कोई ही समझता है। समझने पर और फिर प्रतीति होने पर प्रीति होकर भक्ति दृढ़ होती है, तब यह भक्ति अनुराग रूपिणी होती है, यथा—"जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती। प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई॥" (मा० उ० ८८), वह अनुराग रूपा परा भक्ति बड़ी दुर्लभ है, यथा—"अविरल भगति बिशुद्ध तव,

---

❀ मेरे ग्रन्थ 'श्रीमन्मानस नाम वन्दना' और श्रीरामचरितमानस के 'सिद्धान्त-तिलक' में समझने की विशेष रीतियाँ हैं।

श्रुति पुरान जो गाव । जेहि खोजत जोगीस मुनि, प्रभु प्रसाद कोउ पाव ॥"
(मा० उ० ८४) ।

नाम-रूप की उक्त रीति समझकर नामाराधन से प्रथम समस्त धर्मों के भावों से हृदय शुद्ध होता है, तब पराभक्ति स्थिर हो जाती है, यथा—"पावन प्रेम राम चरन जनम लाभ परम । श्रीराम नाम लेत होत सुलभ सकल धरम ॥" (वि० १३१) । यही भाग्य की पूर्णता है ।

[६४]

एकहि एक सिखावत जपत न आप ।
तुलसी राम प्रेम कर बाधक पाप ॥

अर्थ—(श्रीरामनाम-जप का महत्त्व कहकर) लोग एक दूसरे को शिक्षा दिया करते हैं, परन्तु स्वयं उसका जप नहीं करते, क्योंकि, श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि (उनमें श्रीराम-प्रेम हो तो उनके भजन में मन लगे, पर वह नहीं है, उस) राम-प्रेम का बाधक (विघ्नकर्त्ता) पाप है (जब तक वह पाप दूर नहीं होता, नाम-जप में मन लगने नहीं पाता) ।

विशेष—'एकहि एक ···'—जब शिक्षा देते हैं तब जानते अवश्य हैं, फिर स्वयं क्यों नही जप करते ? वैसा आचरण न रहने से शिक्षा व्यर्थ हो जाती है । इसका समाधान करते हुए उत्तरार्द्ध में ग्रंथकार कहते हैं—

'तुलसी राम प्रेम कर ···'—जब तक हृदय में पाप रहता है, तब तक हरि-भजन में मन नहीं लगता, जैसे भीतर ज्वर रहने से क्षुधा नहीं लगती; यथा—"पापवंत कर सहज सुभाऊ । भजन मोर तेहि भाव न काऊ ॥" (मा० सुं० ४३); तथा —"न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः । माययाऽपहृत-ज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥" (गीता ७।१५); अर्थात् मूढ़, नराधम, माया से अपहृत ज्ञान वाले और आसुरी प्रकृति वाले पापाचारी मनुष्य मेरी शरण नहीं होते ।

पापों का शोधन पुण्य से होता है, वह पुण्य भी रामनाम-निष्ठा से प्राप्त हो जाता है; यथा—"जथा भूमि सब बीजमय, नखत निवास अकास । राम नाम सब धरम मय, जानत तुलसीदास ॥" (दोहावली २९) । "धर्मकल्प-द्रुमाराम हरिधाम पथि संबलं ···" (वि० ४६); तत्पश्चात् हृदय शुद्ध होने

पर श्रीरामजी में प्रेम होता है, तब वही नामाराधन प्रेमलक्षणा एवं पराभक्ति के साथ होने लगता है; यथा—"पावन प्रेम राम चरन जनम लाभ परम। श्रीराम-नाम लेत होत सुलभ सकल धरम ॥" (वि० १३१)।

[६५]

मरत कहत सब सब कहँ सुमिरहु राम।
तुलसी अब नहिं जपत समुझि परिनाम ॥

अर्थ—मरते समय (संसार की अनित्यता देख क्षणिक वैराग्य से) सब लोग सबसे (एक दूसरे से सभी लोग) कहते हैं कि श्रीरामजी का स्मरण करो (यही सार है और सब असार है,)। परन्तु, श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि अब (अच्छी अवस्था में) जगत् के अंतिम फल को समझ कर भी श्रीराम नाम का जप नहीं करते।

विशेष—मरण दशा देखने पर ईश्वरी सत्ता सब की दृष्टि में प्रत्यक्ष हो जाती है; क्योंकि शरीर तो जड़ है। चेतन जीवात्मा इसमें आसक्त होकर बद्ध है, वह तो इस शरीर से जाना नहीं चाहता, नाना उपचार करता हुआ इसमें रहना ही चाहता है। कोई प्रबल शक्ति वाला है, जो इसे बरबस इसके कर्म भोगपूर्त्ति पर मृत्यु करा इसे इस शरीर से पृथक् करता है। वही ईश्वर है। अंतिम गति देखने पर पूर्व की इसकी सारी प्रवृत्तियाँ भी तत्परतंत्र ही समझी जाती हैं; यथा—"होती जो आपने बस रहती एक ही रस दुनी न हरष सोक साँसति सहति। चहतो जो जोई-जोई, लहतो सो सोई-सोई केहू भाँति काहू की न लालसा रहति ॥···तुलसी प्रभु के हाथ हारिबो जीतिबो नाथ !···" (वि० २४६)। अतः, यह श्रुति प्रत्यक्ष हो जाती है; यथा—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते ॥ येन जातानि जीवन्ति ॥ यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति ॥ तद्विजिज्ञासस्व ॥ तद्ब्रह्मेति ॥" (तैत्त० ३।१); अर्थात् जिससे ये सब प्राणी पैदा होते हैं, जीते हैं और अंत में जिसमें सब प्रवेश करते हैं, उसकी जिज्ञासा करो, वही ब्रह्म है।

इन्हीं तीनों कर्मों से ब्रह्म का उपास्य भाव भी स्पष्ट होता है, जैसे किसी खेत को जो बोता है, उसका पालन (रक्षा) करता है और जिसके यहाँ उस खेत का अन्न जाता है, वही उस खेत का स्वामी कहाता है। वही स्वामी

उस अन्न का भोक्ता होता है। वैसे ही जगत् की उत्पत्ति, पालन और प्रलय करने से ईश्वर ही इस जगत् का स्वामी है। अन्नवत् समस्त प्राणी उस ईश्वर के भोग्य (शेष) हैं। अतः, ईश्वर का भोग्यभूत होकर रहनाः अर्थात् सब अंगों से ईश्वर की सेवा रूप में भक्ति करना ही इसका स्वरूप-प्रयुक्त धर्म है।

श्रुति भी वैसा ही आदेश देती है; यथा—"तज्जलानिति शान्त उपासीत।" (छान्दो० ३।१४।१); अर्थात् इसी ब्रह्म से सब उत्पन्न होते हैं, इसी में लय होते हैं और इसी में चेष्टा करते हैं। अतः, शान्त होकर इसकी उपासना करनी चाहिये। तथा—" तासु भजन कीजिय तहँ भर्त्ता। जो कर्त्ता पालक संहर्ता॥" (मा० लं० ६)।

मरते समय उपर्युक्त दृष्टि से समझ कर सभी सबसे भजन-स्मरण के लिये कहते हैं, यह श्मशानी ज्ञान (क्षणिक ज्ञान) कहा जाता है। मृतक को लेकर चलने में भी लोग कहते हैं—'राम नाम सत्य है, सत्य बोले मुक्ति है' यह ज्ञान श्मशान तक ही रहता है। घर आने पर भूल जाता है। उस पर उत्तरार्द्ध में ग्रंथकार शिक्षा देते हैं—

'तुलसी अब नहिं जपत समुझि परिनाम।'—जब परिणाम की व्यवस्था समझ ली गई कि देह नाशवान् है, जगत् अनित्य है। नित्य जीव का यह स्थल नहीं है। जीव ईश्वर का अंश है, उसी को प्राप्त होकर यह सुखपूर्वक रह सकता है, अन्यथा नहीं; यथा—"सुनु मन मूढ़ सिखावन मेरो। हरि पद बिमुख काहू न लह्यो सुख, सठ ! यह समुझ सबेरो॥ बिछुरे ससि-रवि मन-नयननि ते पावत दुख बहुतेरो। भ्रमत श्रमित निसि-दिवस गगन महँ, तहँ रिपु राहु बड़ेरो॥ जद्यपि अति पुनीत सुरसरिता, तिहुँ पुर सुजस घनेरो। तजे चरन अजहूँ न मिटत नित बहिबो ताहू केरो॥ छुटै न बिपति भजे बिनु रघुपति श्रुति संदेहु निबेरो। तुलसिदास सब आस छाँड़ि करि, होहि राम को चेरो॥" (वि० ८७)। इस परिणाम को समझ कर भी अब सुसमय अवस्था में श्रीरामनाम का जप नहीं करता, यही अज्ञान है, माया का प्राबल्य है। अत;, सावधान होकर उस श्मशानी विचार पर सदा दृष्टि रखनी चाहिये। सावधान रहकर श्रीरामनाम का जप करना चाहिये :

[६६]

तुलसी राम नाम जपु आलस छाँड़ ।
राम विमुख कलिकाल को भयो न भाँड़ ॥

अर्थ—श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि आलस्य छोड़कर (सावधानता पूर्वक) श्रीरामनाम जप किया करो। इस कलिकाल में श्रीरामजी से विमुख रहकर कौन ऐसा है, जो (अंत में भाँड़ नहीं हुआ) ?

विशेष—श्रीरामनाम का जप निरन्तर करना चाहिये; यथा— "तुम्ह पुनि राम-राम दिन राती। सादर जपहु अनंग अराती॥" (मा० बा० १०७)। "नाम पाहरू राति-दिन ध्यान तुम्हार कपाट। लोचन निज पद जंत्रित, जाहिं प्रान केहि बाट॥" (मा० सुं० ३०); "अति अनन्य जो हरि के दासा। रटहिं नाम प्रति दिन प्रतिस्वासा॥" (वैराग्य सं० ४०)। आलस्य के वश होने पर ऐसा जप नहीं होता। फिर चुपचाप बैठने पर मन नाना संकल्पों से मानसिक कर्म करने लगता है। वे कर्म विषय-सम्बन्धी ही होते हैं। फिर उनकी पूर्त्ति के लिये ज्ञान, योग एवं विराग आदि का स्वाँग बनाता है। कलिकाल में ये सब वेष एवं वृत्तियाँ उदरपूर्त्ति का साधन बन जाती हैं। जैसे भाँड़ लोग नाना स्वांग बनाकर लोक रिझा कर पेट भरते हैं, वैसे इसकी भी दशा हो जाती है, यह निर्लज्ज होकर निन्दा का पात्र बन जाता है; यथा—"राम नाम के जपे जाइ जिय की जरनि। कलिकाल अपर उपाय ते अपाय भए, जैसे तम नाहिबे को चित्र के तरनि॥ करम कलाप परिताप-पाप साने सब, ज्यों सुफूल फूले तरु फोकट फरनि। दंभ लोभ लालच उपासना विनासि नीके। सुगति साधन भई उदर भरनि॥ जोग न समाधि निरुपाधि न बिराग ज्ञान, बचन बिसेष बेष कहूँ न करनि। कपट कुपथ कोटि, कहनि-रहनि खोटि, सकल सराहैं निज-जिन आचरनि॥..." (वि० १८४); तथा—"तुलसी जो पै राम सों, नाहिन सहज सनेह। मूँड़ मुड़ायो बादि ही, भाँड़ भयो तजि गेह॥" (दोहावली ६२)। "बादि बिरति बिनु ब्रह्म बिचारू॥" (मा० अ० १७७)।

श्रीरामनाम पर कलिकाल का छल-बल नहीं चलता, इससे यह निरुपाधि है; यथा—"कालनेमि कलि कपट निधानू। नाम सुमति समरथ हनुमानू॥ राम नाम नरकेसरी, कनक कशिपु कलिकाल। जापक जन प्रह्लाद जिमि, पालिहि

दलि सुरसाल ॥" (मा० बा० २७); पूर्वोक्त पद ४८ पर भी इसकी निरुपाधिता लिखी गई है।

यह समझ कर निरन्तर रामनाम का जप करना चाहिये।

[६७]

तुलसी रामनाम सम मित्र न आन।
जो पहुँचाव राम पुर तनु अवसान ॥

अर्थ—तुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीराम नाम के समान अन्य कोई भी अपना (वास्तविक) मित्र (हितैषी) नहीं है, जो शरीर छूटने पर (इस प्राणी को) श्रीरामधाम (नित्य अयोध्या-साकेत लोक) पहुँचाता है।

विशेष—संसार के सभी मित्र शरीर हितैषी होते हैं, श्मशान तक ही साथ देते हैं। श्रीरामनाम शरीरान्त पर आत्मा का कल्याण करता है; श्रीरामधाम पहुँचा देता है। उससे फिर इसका जन्म-मरण नहीं होता; यथा—"अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्। यः प्रयति समद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥" (गीता ८।५); अर्थात् अन्तकाल में जो मेरा स्मरण करता हुआ शरीर त्याग करता है, वह मेरे भाव को प्राप्त होता है, इसमें संशय नहीं। तथा—"जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमौ मुकुत होइ श्रुति गावा॥" (मा० अर० ३०); अर्थात् जन्म भर कैसा भी रहा हो, मरते समय यदि रामनाम कह दिया जाय, तब भी यह नाम इसे परधाम पहुँचा देता है, ऐसा मित्र है।

जो सदा नाम स्मरण करता है, उसे तो यह हरिधाम पहुँचाता ही है; यथा—"सादर सुमिरन जे नर करहीं। भव बारिधि गोपद इव तरहीं॥" (मा० बा० ११८); तथा—"नाम रटौं, जम बास क्यों जाउँ, को आइ सकै जमकिंकर नेरे ?॥" (क० उ० ९२), "सुमिरु सनेह सों तू नाम रामराय को। संबर निसंबरी को, सखा असहाय को॥" (वि० ६९), "स्वारथ-साधक परमारथ दायक नाम, रामनाम-सारिखो न और हितु है॥" (वि० २५४)।

किसी विवशता से एवं अन्य उद्देश्य से भी कहा हुआ हरिनाम हरिधाम देता ही है, यथा—"हास्याद्भयात्तथा क्रोधाद्द्वेषात्कामादथापि वा। स्नेहाद्वा सकृदुच्चार्य विष्णोर्नामाघहारि च॥ पापिष्ठा अपि गच्छन्ति विष्णोर्धामनिरामयम्। किमु तच्छ्रद्धया युक्ता जितक्रोधा जितेन्द्रियाः॥ दयावन्तः कथां श्रुत्वा गच्छन्तीति

द्विजोत्तम ॥" (स्कन्द पु० वै० वै० मा० २१। ३६-३८)। अर्थात् हँसी, क्रोध, भय, द्वेष, कामना तथा स्नेह से भी जो एक बार भगवान् के पाप-नाशक नाम का उच्चारण करते हैं, वे पापी भी हरि धाम पाते हैं। जो श्रद्धावान् सविधि जपते हैं, उनके प्रति क्या कहना ?

अलङ्कार—'काव्य लिंग' (लक्षण पद ३६ में लिखा गया)।

यहाँ श्रीरामनाम की मित्रता का 'जो पहुँचाव...' इस कारण वाक्य से समर्थन किया गया है, इससे यह अलंकार सिद्ध है।

[६८]

नाम भरोस, नाम बल, नाम सनेहुँ।
जनम-जनम रघुनंदन, तुलसिहि देहु ॥

अर्थ—(श्रीगोस्वामीजी श्रीरामजी से याचना करते हैं कि) श्रीरामनाम का भरोसा, श्रीरामनाम का बल और श्रीरामनाम का स्नेह, हे रघुनन्दन श्रीरामजी ! प्रत्येक जन्म में इस तुलसीदास को दीजिये।

विशेष - 'नाम भरोस'; यथा—"भरोसो और आइहै उर ताके।...मोको भलो रामनाम सुरतरु सों, राम प्रसाद कृपालु कृपा के। तुलसी सुखी निसोच राज ज्यों बालक माय-बबा के॥" (वि० २२५)। तथा—"भरोसो जाहि दूसरो सो करो। मोको तो राम को नाम कलपतरु कलि कल्यान फरो॥.... संकर साखि जो राखि कहउँ कछु, तौ जरि जीह गरो। अपनो भलो रामनामहि ते तुलसिहि समुझि परो॥" (वि० २२६), इत्यादि।

'नाम बल'; यथा—"नाम बल क्यों बसौं जम नगर नेरे।" (वि०२१०), "नाम अजामिल से खल तारन, तारन बारन बार-बधू को। नाम हरे प्रह्लाद विषाद, पिता भय साँसति सागर सूको॥ नाम सो प्रीति-प्रतीति विहीन गिल्यो कलिकाल कराल न चूको। राखिहैं राम सो जासु हिये तुलसी हुलसै बल आखर दू को॥" (क० उ० ९०)। "स्वारथ को परमारथ को कलि राम को नाम प्रताप बली है।" (क० उ० ८५)।

'नाम सनेह'; यथा—"सुमिरु सनेह सों तू नाम राम राय को। संबल निसंबरी को सखा असहाय को॥...भलो भली भाँति है जो मेरे कहे लागि है। मन रामनाम सों सुभाय अनुरागि है॥ रामनाम को प्रभाव जानि जूड़ी आगि

। सहित सहाय कलिकाल भीरु भागि है ।।" (वि० ६९-७०), तथा—
"आँधरो अधम जड़ जाजरो जरा जमन, सूकर के सावक ढँका ढकेल्यो मग में ।
गिरयो हिये हहरि 'हराम हो हराम हन्यो' हाय-हाय करत परी गो काल फँग
में ।। तुलसी विसोक ह्वै तिलोकपति लोक गयो, नाम के प्रताप बात विदित है
जग में । सोई रामनाम जो सनेह सों जपत जन, ताकी महिमा क्यों कही है
जाति अगमें ।।" (क० उ० ७६) ।

'जनम जनम...'—भक्त भगवान् से कोई फल नहीं चाहते, मुक्ति भी नहीं चाहते, वे केवल राम-स्नेह चाहते हैं । यहाँ ग्रन्थकार ने नामनिष्ठा द्वारा एकरस राम-स्नेह की याचना की है । भक्ति-निष्ठा से भक्त भगवान् को प्राप्त होते हैं, उससे फिर संसार में नहीं आते, यथा—"मद्भक्ता यान्ति मामपि ।" (गीता ७ । २३), "मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् । नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ।। ... मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ।।' (गीता ८ । १५-१६), इत्यादि ।

'रघुनंदन'—इस सम्बोधन का भाव यह कि आपके कुल-पुरुषा महाराज रघु बड़े दानी थे । आप तो उस कुल को आनंदित करनेवाले हैं, मेरे सम्बन्ध में इस उदार दातृत्व का परिचय दें ।

इस विचार से श्रीगोस्वामीजी जन्म-जन्म नाम निष्ठा ही माँगते हैं; यथा—"नाम सों निबाह नेह दीन को दयालु देहु दास तुलसी को बलि बड़ो बरु है ।।" (वि० २२५) ।

[६९]

जनम-जनम जहँ-जहँ तनु तुलसिहि देहु ।
तहँ-तहँ राम निबाहिब नाम-सनेहु ।।

अर्थ—हे श्रीरामजी ! इस तुलसीदास को (कर्मानुसार) जहाँ-जहाँ आप शरीर दें, वहाँ-वहाँ उन शरीरों से इसका श्रीरामनाम में स्नेह निबहता जाय, (ऐसी निष्ठा कृपा कर दीजिये) ।

विशेष—ऊपर पद में नाम-भरोस और नाम-बल के साथ नाम-स्नेह माँगा था । यहाँ उसी स्नेह की निष्ठा को विशेष दृढ़ करते हैं । अन्यत्र भी ऐसा ही कहा है, यथा—"राम नाम को प्रताप जानियत नीके आप, मोको गति दूसरी

न बिधि निरमई।" (वि० २५२), "नाम-अवलंबु-अंबु दीन मीन-राउ सो। प्रभु सों बनाइ कहौं जीह जरि जाउ सो॥" (वि० १८२), "संकर साखि जो राखि कहौं कछु, तौ जरि जीह गरो। अपनो भलो रामनामहि तें तुलसिहि समुझि परो॥" (वि० २२६)।

'राम निबाहिब···'—भक्त की दृढ़ श्रद्धा देखकर श्रीरामजी कृपा कर उसका निर्वाह करते हैं, यथा—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गीता ४। ११); अर्थात् जो मुझको जैसे भजते हैं, उनको मैं वैसे ही भजता हूँ (उनकी कामना पूरी करता हुँ) तथा—"यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते। लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्।" (गीता ७। २१-२२), अर्थात् जो-जो भक्त जिस-जिस तनु (देवता रूप मेरे शरीर) को श्रद्धा के साथ पूजना चाहता है, उस-उसकी उस श्रद्धा को मैं ही अचल स्थिर कर देता हूँ। वह (भक्त) उस श्रद्धा से युक्त होकर उस (देवता रूप भगवान् के शरीर) की आराधना करता है और उससे उन भोगों को प्राप्त करता है, जो मेरे ही द्वारा नियत किये हुए हैं।

उसी रीति से ग्रन्थकार यहाँ नाम-निष्ठा की दृढ़ता चाहते हैं।

संवत बसु नभ ब्योम नयन सित क्वार।
तिलक दसैं कुज पूरयो मति अनुसार॥

—:-०-:—

संकेत-सूची

अ०—अयोध्याकाण्ड तथा अध्याय	गी०—गीतावली रामायण
अर०—अरण्यकाण्ड	बा०—बालकाण्ड
अव०—अवतरणिका	मा०, मानस—श्रीरामचरितमानस
उ०—उत्तरकाण्ड	लं०—लंकाकाण्ड
क०—कवितावली रामायण	वि०—विनय-पत्रिका
कि०—किष्किन्धाकाण्ड	सुं०—सुंदरकाण्ड

———



ग्रन्थकार के अन्य ग्रन्थ

श्रीरामचरितमानस आदि समस्त तुलसी साहित्य पर दा
विशिष्टाद्वैत दृष्टि से सर्व-शास्त्र प्रमाणों के साथ विवेचनात्मक वि
आध्यात्मिक रहस्यमय एवं भावमय विशद व्याख्याएँ—

१. श्रीरामचरितमानस 'सिद्धान्त-तिलक' (पक्की तीन जिल्दों में)
२. विनय-पत्रिका ,, (पक्की दो जिल्दों में) १
३. दोहावली ,, (सजिल्द)
४. हनुमान-बाहुक ,, ,,
५. कृष्ण-गीतावली ,, ...
६. रामाज्ञा-प्रश्न ,, ...
७. रामलला नहछू ,, ...
८. वैराग्य-संदीपिनी ,, ...
९. बरवै रामायण ,, ...
१०. पार्वती-मंगल ,, ...
११. जानकी-मंगल ,, ...
१२. कवितावली ,, ... छप
१३. गीतावली ,, ...
१४. मानस सिद्धान्त विवरण ... .
१५. मंजुरसाष्टयाम ... ...
१६. मंजुरस पदावली ... ... छप
१७. प्रपत्ति रहस्य ... (सजिल्द)
१८. प्रबोध-रत्न-मंजूषा ... छप
१९. श्रीमन्मानस नाम बन्दना† ... (सजिल्द)

मिलने का पता—
१. सिद्धान्त-तिलक-कार्यालय, सद्गुरु कुटी, गोलाघाट, अयो
२. पुस्तक-भंडार, पटना तथा अन्य शाखाएँ

---

† यह ग्रन्थ खेमराज श्रीकृष्णदास, श्रीवेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बंबई से मँगावे

